A

# स्वतन्त्रवचनामृतम्

*मूल लेखक*

परम पूज्य आचार्यश्री कनकसेन जी महाराज

*अनुवादक और सम्पादक*

परम पूज्य युवामुनि श्री
सुविधिसागर जी महाराज

*प्राप्तिस्थान*

भरतकुमार इन्दरचन्द पापडीवाल
सिडको, एन-९ ए-११५-४९/४
शिवनेरी कॉलोनी
औरंगाबाद {महाराष्ट्र} ४३१००३
☎ {०२४०} ५५१०५८१, २३८१०६१

पुनर्प्रकाशन हेतु अर्थसहयोग
१५ रुपये

प्रकाशनकाल
५-११-२००३

आवृत्ति :- १
प्रति :- ५०००

B

# समर्पण

परम पूज्य सन्मार्गदिवाकर, तपोधन, आगम और अध्यात्म के उद्घोषक, श्रमणपरम्परा के आदर्श मुकुटमणि, तपस्वी सम्राट्, भारत गौरव, असंख्य गुणों के सागर, जीवनदर्शन के कुशल उपदेष्टा, स्याद्वादविद्या के अधिपति, आचार्य भगवन्त श्री सन्मतिसागर जी महाराज

और

उन्हीं के प्रियाग्र शिष्य परम पूज्य कुमारयोगी, मुक्तिदूत, भक्तवत्सल, करुणा कुबेर, वादीभगजपंचानन, श्रमणपुंगव, आचार्य शिरोमणि श्री हेमसागर जी महाराज

के पावन करकमलों में प्रस्तुत कृति सादर सभक्ति समर्पित

समर्पक

मुनि सुविधिसागर

# लेखक की लेखनी से

देवलगाँवराजा के चातुर्मासकाल में कुछ स्मृतिग्रन्थों का अवलोकन कर रहा था। एकदिन **पण्डित जगन्मोहनलाल शास्त्री साधुवाद ग्रन्थ** का अवलोकन करते हुए मुझे **स्वतन्त्रवचनामृतम्** ग्रन्थ प्राप्त हुआ। मेरे लिए ग्रन्थ का यह नाम अश्रुतपूर्व था। इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने की जिज्ञासा मन में जागृत हो गयी। 32 कारिकाओं का स्वाध्याय करने में समय ही कितना लगना था? स्वाध्याय करने से पूर्व मन में यह निश्चय हो चुका था कि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ होगा, क्योंकि नाम से तो आध्यात्मिक विषय ही ध्वनित होता है। तीसरी कारिका से आगे पढ़ते समय यह स्पष्ट हो गया कि यह ग्रन्थ आध्यात्मिक नहीं, अपितु दार्शनिक है।

ग्रन्थ की शैली इतनी रोचक है कि मात्र दो/तीन दिनों में इस ग्रन्थ का मैंने लगभग 100 से अधिक बार पाठ कर लिया। एक-एक कारिका की अर्थगम्भीरता मन को आनन्दित कर रही थी। जैनदर्शन की युक्ति कितनी अबाधित है ? यह बात सातत्य से इन कारिकाओं से झलक रही थी। मैंने संघस्थ साधुओं को यह ग्रन्थ दिखाया। सबके लिए यह नवीन ग्रन्थ था। सहज ही निर्णय हो गया कि इस ग्रन्थ का अनुवाद करना है। समस्या पाठ के अशुद्धता के कारण उत्पन्न हो रही थी। प्रथम कारिका में ही प्रथम चरण था – **जीवाजीवैक भाषाय**। भाषा शब्द स्त्रीलिंगी है। स्त्रीलिंग शब्दों में **ङे** प्रत्यय के स्थान पर **ङेर्यः** सूत्र से **य** का आदेश हो नहीं सकता है। अर्थात् **भाषाय** शब्द अशुद्ध है। सर्वप्रथम पाठशोधन करना पड़ा। कहीं पाठशोधन में भूल न रह गयी हो – यह भय भी मन को सता रहा था। गुरुदेव पास में थे नहीं। अतः अत्यन्त सावधानी से पाठ के शोधन करने का कार्य करना पड़ा ।

प्रकाशित ग्रन्थ में डॉक्टर श्री पद्मनाभ जैन का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद भी था। श्री पद्मनाभ जैन को यह ग्रन्थ स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय के राष्ट्रीय पुस्तकालय (अमरिका) में प्राप्त हुआ था।

उनके इस कार्य को विलुप्त नहीं होने देने का संकल्प भी हमारे कार्य में अनेकों समस्याओं का उत्पादक बना हुआ था। गुरुकृपा ने सारी समस्याओं का समाधान करा दिया। स्थानीय प्रोफेसर विनायक देशपाण्डे व सुधीर चौहान के सहयोग से ग्रन्थ की अंग्रेजी टीका का मराठी में अनुवाद कराया गया । यह अनुवाद भावानुगामी है । तत्पश्चात् उसे मैंने हिन्दी में परिवर्तित कर दिया।

ग्रन्थ में सरल संस्कृत का प्रयोग होने के कारण मात्र सात दिनों में इस ग्रन्थ का अनुवाद पूर्ण करते समय कोई बाधक कारण उपस्थित नहीं हुआ। इसतरह कुछ दिनों का प्रयत्न इस कृति की संरचना कर गया।

चुंकि, यह प्रति हमें देवलगाँवराजा में प्राप्त हुई, यहीं पर इसका अनुवाद पूर्ण हुआ तो मन में एक विचार और आया कि यहीं के श्रावक इसका प्रकाशन कर दें तो कितना अच्छा होगा ? वह स्वप्न भी यहाँ के श्रावकों की श्रुतभक्ति के कारण साकार हुआ ।

अनुवाद के बाद हमने संघ में इसकी वाचना की । कार्य की गति अधिक रही। इसलिए इसमें त्रुटियों की पूरी सम्भावना है। मुनिगण और गणमान्य विद्वान हमारे इस प्रयत्न को बाल्यप्रयोग समझ कर मार्गदर्शन करेंगे, ऐसी आशा और विश्वास मुझे है।

मन में एक दुःख अवश्य है कि ऐसी अनेक महान कृतियाँ आज अननुवादित स्थिति में उपेक्षित सी पड़ी हुई हैं। उनका उद्धार कब होगा ? मैं प्रबुद्ध पाठकों से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें कोई भी नया ग्रन्थ अननुवादित अवस्था में प्राप्त हो तो वे मुझे सूचित करें । मैं पूर्ण प्रयत्न करूंगा कि एकबार उसका अनुवाद होकर वह प्रकाशन में आ जाय।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्षरूप से जिन-जिन भव्यात्माओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी को मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद।

आइये, इस लघुकाय परन्तु महान अर्थ को धारण करने वाले ग्रन्थ का स्वाध्याय करें ।

**मुनि सुविधिसागर**

# अनुवादक का परिचय

औरंगाबाद शहर धार्मिक और सामाजिकदृष्टि से अनेक सन्तों, विचारकों तथा सुधारकों का जन्म या कार्यक्षेत्र रहा है । इसी शहर में १९-३-१९७१ को रात्रिकालीन अन्धःकार में तमस से द्वंद्व करने वाले जयकुमार नामक पूर्णचन्द्र का जन्म हुआ । श्रीमान् इन्दरचन्द जी पापड़ीवाल और माता कंचनबाई की आँखों का तारा यह सपूत एकदिन विश्ववन्द्य श्रमणेश्वर के पद पर आसीन हो जायेगा - यह शायद उससमय किसी ने सोचा तक नहीं होगा ।

जयकुमार बचपन से ही विद्याव्यासंगी, परिश्रमी, सुहास्यवदनी, प्रज्ञापुंज, विनयी दृढ़प्रतिज्ञ थे । किसी भी कार्य को प्रारम्भ करके पूर्णत्व तक ले जाना उनके स्वभाव में ही था । दया और सहयोग उनके गुणालंकार थे । बड़ों की विनय करना परन्तु अपनी बात स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करना तो उनकी विशेषता थी । भय भी उनके नाम से भय खाता था । विनोदप्रियता और अजातशत्रुता उनको प्राप्त हुआ सृष्टि का उपहार ही था ।

जो परिस्थितियों से दो हाथ करना नहीं जानता वह कभी महान नहीं बन सकता । संघर्ष ही उत्कर्ष का बीज है । जन्म के उपरान्त तीसरे दिन आपकी आँखों में नासुर नामक रोग हुआ । अब तक उसकी छह बार शल्यचिकित्सा हो चुकी है । बचपन से आपकी कमर खराब है, फलतः पाँच वर्षपर्यन्त आप बैठ नहीं पाते थे । यद्यपि अनेकों उपचार किये गये; परन्तु आज भी उपर्युक्त ये दो अंग कमजोर अवस्था में हैं ।

जयकुमार ने पाँचवीं कक्षा तक का अध्ययन औरंगाबाद में ही किया। तत्पश्चात् तीन वर्षो तक का अध्ययन उन्होंने बाल ब्रह्मचर्याश्रम-बाहुबली (कुम्भोज) में किया। शिक्षा के अन्तिम दो वर्ष पुनः औरंगाबाद में ही व्यतीत हुये। आपने लौकिक दृष्टि से मात्र दसवीं कक्षा तक ही अध्ययन किया है, परन्तु आपकी अध्ययन शीलता ने समस्त उपमानों को पीछे छोड़ दिया है। आप निजी

अध्ययन के साथ-साथ अपनी बहन विजया व भाई भरतकुमार को भी पढ़ाया करते थे। आप घर में अद्वितीय (प्रथम) थे तो बुद्धि में भी अद्वितीय थे।

अति-बालपन से ही आपको धार्मिक संस्कारों से विभूषित किया गया था। आपने आयु के दसवें वर्ष में ही परम पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र जी महाराज से शुद्रजलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, कन्दमूलत्याग और पच्चीस वर्ष का होने तक ब्रह्मचारी रहने का नियम लिया। जब आप दूसरी कक्षा में पढ़ते थे, तभी से आपने चाय का त्याग कर दिया था। आपका त्याग इतना सहज था कि दूसरों को कभी कष्ट नहीं हुआ। आप किसी वस्तु का त्याग करते थे तो उसके बदले में अन्य वस्तु की चाहना नहीं करते थे।

आप गुरु का अन्वेषण कर रहे थे। महाराष्ट्र प्रान्त के शेलू नामक गाँव में आपने परम पूज्य आचार्यकल्प श्री हेमसागर जी महाराज के दर्शन किये। उनकी चर्या एवं ज्ञान से अभिभूत होकर आपने उनके चरणों में श्रीफल भेट किया एवं अपने विचारों को उन्हें अवगत कराया। उनकी अनुज्ञा से ही जयकुमार ने दसवीं तक की शिक्षा प्राप्त की। २८-४-८६ को घर का आजीवन त्याग करके चरित्रनायक ने गुरुचरणों की शरण को वरण किया।

जलगाँव जिले में नेरी नामक गाँव में आपने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। रागियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों को त्याग कर आपने श्वेतवस्त्र परिधान किये। वह अक्षयतृतीया का पावन दिवस था। गुरुदेव ने आपको जैनेन्द्रकुमार यह नवीन नाम प्रदान किया। गुरु का अनुगमन करते हुए आप अतिशय क्षेत्र कचनेर जी पहुँचे। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी के दिन आपने चिन्तामणि पार्श्वनाथ प्रभु के समक्ष गुरु के द्वारा सप्तम प्रतिमाव्रत धारण किया। तदनन्तर आप गुरुदेव के चरणों में अध्ययनरत हो गये।

**१३- ३-८७** को आपने क्षुल्लक दीक्षा धारण की। जन्मभूमि से केवल ५५ कि.मी. दूरी पर स्थित शिऊर नामक गाँव में यह समारोह सम्पन्न हुआ। पूज्य गुरुदेव ने आपका नाम रवीन्द्रसागर रखा। सन् १९८७ का वर्षयोग न्यायडोंगरी (जि.नाशिक) में हुआ।

वर्षायोग के तत्काल बाद २३-१०-१९८७ को आपने ऐलक दीक्षा स्वीकार की। गुरुदेव ने आपको रूपेन्द्रसागर इस नाम से अलंकृत किया। आपने गुरु के साथ सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी के दर्शन किये तथा सोनज (मालेगाँव) से आपने अलग विचरण करना प्रारंभ किया।

विहार करते-करते आप अपने दादागुरु परमपूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज के चरणों में पहुँचे। अतिशय क्षेत्र ईडर (जि.डूंगरपूर) में आपने दादागुरु के करणकमलों से ११-५-१९८९ को मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनिदीक्षा का प्रथम चार्तुमास गुरुदेव के साथ सम्पन्न करके आपने अलग विहार कर दिया। आत्मसाधना आपका ध्येय था, तो सारा समाज प्रबोधित हो यह आपकी पवित्र इच्छा थी। इन दोनों ही लक्ष्यों को सिद्ध करते हुए आपने अनेक गाँवों और शहरों को अपनी चरणरज से पवित्र किया।

आपकी प्रवचन शैली बे-जोड़ है। आपके प्रवचन में केवल ओज ही नहीं, अपितु साथ में आगम की धाराप्रवाहिकता भी है। विषय की सर्वांगिनता, दृष्टान्त की सहजता और शैली में नयविवक्षा का होना आपके प्रवचनों का वैशिष्ट्य है। प्रवचनशैली की तरह ही आपकी अध्यापनशैली अनुपम है। प्रत्येक चार्तुमास में आप नवयुवकों को धार्मिक शिक्षण कराते हैं। फिजुलखर्चीपना आपको रुचिकर नही है तथा समय की पाबन्दी में आप सब के लिए एक आदर्श उदाहरण हैं।

आप अनेक विशेषताओं से सम्पन्न हैं और अनेक सद्गुणों के समाधार भी। आपकी समस्त विशेषताओं को विलोक दूरदृष्टिवान गुरुदेव ने १९९५ में आपको आचार्यपद प्रदान करने की घोषणा की। पदों के प्रति निरासक्त रहते हुए आपने गुरुदेव से निवेदन किया है कि हे गुरुदेव! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो आचार्यपद नहीं, अपितु अपने दो पद (चरणयुगल) प्रदान कीजिये ताकि चारित्रपथ का अनुगमन करते हुए मैं कभी थकावट का अनुभव न करूं। बालयोगी, शब्दशिल्पी जैसे कितने ही पदों को आपने ग्रहण नहीं किया।

आपकी रुचि प्राचीन शास्त्रों की सुरक्षा में है। आप जहाँ भी जाते हैं, वहाँ के हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के ग्रन्थागार का अवलोकन

अवश्य करते हैं। अप्रकाशित ग्रन्थों का प्रकाशन कराना आपका ध्येय है। अबतक संघ से वैरग्गसार, दव्वसंग्गह आदि ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है जो कि मात्र पाण्डुलिपियों में ही उपलब्ध थे। मिथ्यात्वनिषेध, श्रीपुराण, व्रतफलम्, सामायिक पाठ, स्वतन्त्रवचनामृतम् आदि ग्रन्थ भी प्रकाशनाधीन हैं ।

परिचय के लेखन तक आप ३ मुनि, ९ आर्यिका, एक क्षुल्लक एवं एक क्षुल्लिका दीक्षा दे चुके हैं। अबतक आपके सानिध्य में १ मुनि व ५ आर्यिकाओं की सल्लेखना हो चुकी है। इतने अपार वैभव के धनी होकर भी आपको अहंकार स्पर्श तक न कर पाया। आपकी चर्या सहज है और आपकी चर्चा अतिमार्मिक है। आपकी स्पष्टवादिता और सरलता ही ऐसा वशीकरण मन्त्र है कि श्रावकवर्ग आपके पास खिंचा चला आता है।

आपके कारण जैनों का धर्मध्वज गर्वयुक्त होकर लहरा रहा है - वह ऐसा ही लहराता रहें, आपकी धर्मसाधना व ज्ञान साधना दिन दूगुणी और रात चौगुणी बढ़ती रहें, आपका शिष्य-परिवार दिनों-दिन विकसित होता रहें, आपको स्वास्थ्य-ऐश्वर्य की प्राप्ति हों, आपके द्वारा नित-नवीन ग्रन्थों का अनुवाद होकर प्रकाशन होता रहें, आपका नाम साधकशिष्यों के लिए आदर्श बनें, आपका यश दिग्दिगन्त में फैलता रहें तथा आप दीर्घायुषी बनकर निरन्तर आत्मिक प्रगति करते रहें यही हम सबकी मंगल कामना है।

# ग्रन्थ का परिचय

भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने आत्मविद्या, तत्त्वविद्या आदि शब्दों का प्रयोग बहुतायतरुप से किया है । आत्मविद्या और तत्त्वविद्या के पर्यायवाची शब्द के रुप में दर्शन शब्द प्रचलित हुआ । **दृश्** धातु से बने हुए दर्शन शब्द का अर्थ **दृष्टिकोण** है । इसे **चाक्षुष अनुभूति** कहनें में कोई बाधक कारण नहीं है ।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है । प्रत्येक दृष्टा ने अपने अनुभूति को तर्कणा के मुख से प्रचारित किया । सत्य की खोज का यह प्रामाणिक प्रयत्न है । अन्धविश्वास के साथ संघर्ष के लिए दर्शनशास्त्र अत्यावश्यक होता है । विचारों को जागृत करने और बुद्धि को सूक्ष्म चिन्तनशील बनाने में दर्शनशास्त्रों का महत्वपूर्ण योगदान है ।

फिर भी एक समस्या है कि प्रत्येक दर्शन अपनी मान्यताओं को सत्य मानकर अपनी विचारधारा को प्रस्तुत करता है । एक ही विषय पर मत-मतान्तरों को पाकर शिष्यों के समक्ष एक अन्यमनस्कता की स्थिति का निर्माण होता है । उनको तत्त्वबोध कराने के लिए जैन दार्शनिक आचार्यों ने दर्शनशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की रचना की । परमत का खण्डन करके सम्यग्मार्ग का प्रदर्शन करना ही इनकी रचना का मुख्य उद्देश्य है । धर्म के मन्दिर में प्रवेश करनें से पूर्व मान्यताओं का परिमार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है । जबतक मान्यतायें परिशुद्ध नहीं होगी, तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है । अतः सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए इन ग्रन्थों के स्वाध्याय की बहुत आवश्यकता है ।

भारत में जैनदर्शन के अतिरिक्त सांख्य, मीमांसक, बौद्ध और चार्वाक आदि अनेक दर्शन प्रचलित हैं । उन दर्शनों के द्वारा अनेक सिद्धान्त स्थापित किये गये हैं । उनकी सत्यासत्यता का आकलन किये बिना तत्त्वों का सम्यग्बोध नहीं हो सकता । उसके अभाव में सम्यग्दर्शन कैसे होगा ? अतः तर्कप्रधान युग की इस धारा में इस ग्रन्थ का महत्व और अधिक बढ़ जाता है ।

दर्शनशास्त्र के अनुपम ग्रन्थभण्डार में बिखरे हुए

अनेक मोतियों में यह भी एक महामोती है । आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने लगभग २१ व्दात्रिंशतिका (३२ श्लोक वाली रचना) लिखी हैं । आचार्य श्री अमितगति जी की व्दात्रिंशतिका दिगम्बर आम्नाय में तो सुप्रसिद्ध ही है । उसी शैली में लिखी हुई यह एक अनुपम रचना है ।

इस ग्रन्थ के नाम में व इस ग्रन्थ के रचयिता के विषय में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने ग्रन्थान्त में इन दोनों समस्याओं का समाधान कर दिया है । ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है

इत्थं स्वतन्त्रवचनामृतमापिबन्ति ।
स्वात्मस्थितेः कनकसेनमुखेन्दु सूतम् ॥
ये जिह्वया श्रुतिपुते त्रियुगेन भव्याः ।
तेऽजरामरपदं सपदि श्रयन्ति ॥३२॥

***अर्थ :-***

इसप्रकार **कनकसेन** मुनि के मुखकमल से निर्गत **स्वतन्त्रवचनामृत** का जो पान करते हैं, जो जिह्वा के व्दारा पठन करते हैं अथवा कानों के व्दारा सुनते हैं, वे भव्यजीव शिघ्र ही अजरामर पद को प्राप्त करते हैं ।

इस श्लोक से दो बाते सिद्ध हो गयी कि -

१:- इस ग्रन्थ का नाम **स्वतन्त्रवचनामृतम्** ही है ।

२:- इस ग्रन्थ के रचयिता **आचार्य श्री कनकसेन** जी हैं ।

आत्मा को स्वतन्त्रता की प्राप्ति कैसे होगी ? इस प्रश्न का सुन्दर रूप से समाधान इस ग्रन्थ में किया गया है । अमृत प्राशन करके अमर होने की अभिलाषा करने वाले इस वचनरूप अमृत का प्राशन अवश्य करें ।

ग्रन्थकर्त्ता के विषय में विशेष कोई जानकारी हमारे पास नहीं है । एकीभाव स्तोत्र के रचयिता आचार्य श्री वादिराज जी दर्शन के महान ज्ञाता थे । उनका मूल नाम इतिहासकारों ने कनकसेन ही स्वीकार किया है । क्या इस ग्रन्थ के रचयिता वे ही हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इतिहासकार अवश्य खोजेंगे ।

इस ग्रन्थ में कुल ३२ श्लोक हैं । प्रारम्भिक ३१ श्लोक अनुष्टुप छन्द में लिखे हुए हैं और अन्तिम छन्द वसन्ततिलका में लिखा हुआ है । चुंकि पद्‌मनाभ जी जैन को इसकी एक ही प्रति प्राप्त हुई थी । उसी एक प्रति के आधार पर उन्होंने यह कार्य किया था । अतः पाठ की दृष्टि से छन्द में अनेक भूलें प्रतीति में आ रही है । अन्तिम छन्द के चतुर्थचरण में द्वितीय शब्द का ह्रस्व का पाया जाना इसी भूल का द्योतक है ।

इस ग्रन्थ के विषय को मूलरुप से तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है । पहली नौ कारिकाओं में अन्य दर्शनों की मान्यतायें और उनका परिहार स्पष्ट किया गया है । तत्पश्चात् १५ कारिकाओं में अनेकान्त पद्धति से आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है । तीसरे विभाग में शेष बची हुई ८ कारिकाओं का संग्रह किया जा सकता है । इनमें मोक्ष के कारणों का विस्तार से विवेचन किया गया है । संक्षिप्ततः कहा जाये तो इस लघुकाय ग्रन्थ में आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्ति दिलाने वाले सम्पूर्ण उपयोगी सिद्धान्तों की प्ररुपणा सरल शैली में की गयी है ।

ग्रन्थ के प्रारंभ में ग्रन्थकर्त्ता ने मंगलाचरण में निर्दोष परमात्मा का स्मरण किया है । द्वितीय कारिका में मोक्ष का लक्षण निर्देशित किया गया है । यह कारिका ही इस ग्रन्थ के विस्तार का मूल है । मोक्ष प्राप्त करने की पात्रता आत्मा में है । उस आत्मा का स्वरुप समझना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा की आत्मोपलब्धि ही मोक्ष है । विभिन्न दर्शनों में आत्मा के विषय में प्रकट किये गये अभिप्राय युक्ति के सन्मुख नहीं टिक सकते हैं । यह सिद्ध करने के लिए चार्वाक, बौद्ध, मीमांसक, यौग और अद्वैतवादियों के मत को पूर्वपक्ष बनाकर ग्रन्थकर्त्ता ने उनके मत की समीक्षा की है ।

स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है, क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु का कथन मुख्य और गौण पद्धति का अवलम्बन लिये बिना नहीं हो सकता है । वस्तु में रहने वाले परस्पर विरुद्ध धर्मों की सिद्धि नयों के माध्यम से करते हुए ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया है कि सापेक्ष पद्धति का अनुसरण किये बिना स्वीकार

किये गये वस्तुतत्त्व को सत्य की कोटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है । इस सिद्धि में ग्रन्थकर्त्ता ने अस्ति-नास्ति, गुणसहित-गुणरहित, भिन्न-अभिन्न, मूर्तिक-अमूर्तिक, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, शून्य-अशून्य, चेतन-अचेतन, भाववान-अभाववान, शरीरप्रमाण-सर्वगत, कर्त्ता-अकर्त्ता, भोक्ता-अभोक्ता, व्यक्त-अव्यक्त और ग्राह्य-ग्राहक आदि धर्मों का उल्लेख करके उनकी आत्मा में सिद्धि की है ।

जैन मतानुसार वस्तु के यथार्थ बोध को प्राप्त करने के लिए चार उपायों की नियोजना आवश्यक होती है । लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप यह उस चतुष्पदी का नाम है । इस ग्रन्थ में वस्तुतत्त्व को जानने के लिए प्रमाण, नय और सप्तभंगी की आवश्यकता प्रकट की गयी है । एक-एक कारिका के माध्यम से इन तीनों का लक्षण स्पष्ट करके उनके भेदों का कथन किया गया है ।

मोक्ष में आत्मा की स्थिति किसप्रकार होती है ? इसे स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि मोक्ष में सत्, चित्, ज्ञान और सुख का आत्यन्तिक अवस्थान होता है । वहाँ किसी गुणस्थान और लेश्या का सद्भाव नहीं होता । घातियादि कर्मों का विनाश होने पर ही वह अवस्था प्राप्त होती है । जैसे अग्नि के संयोग से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार रत्नत्रय के द्वारा आत्मा भी शुद्ध होता है । रत्नत्रय का विवेचन तीन कारिकाओं में किया गया है ।

अन्त में वसन्ततिलका छन्द के माध्यम से ग्रन्थ का समापन किया गया है । इस कारिका में ग्रन्थकार ने अपने नाम के साथ **स्वात्मस्थितेः** शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द के द्वारा ग्रन्थकार ने दार्शनिकता के साथ-साथ अपनी अध्यात्मप्रवणता भी अभिव्यक्त की है ।

इस ग्रन्थ के द्वारा जैन दार्शनिकों की तार्किकता, विषय को विवेचित करने की क्षमता और जैनदर्शन की निर्दोषता का बोध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है । इस ग्रन्थ का प्रचार और प्रसार होना अति-आवश्यक है ।

**लेखक**

**परम पूज्य मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज**

M

# अनुक्रमणिका


| क्रम | विषय | पृष्ठांक |
|---|---|---|
| १ | मंगलाचरण | १ |
| २ | मोक्ष का लक्षण | १ |
| ३ | नास्तिकमत का पूर्वपक्ष | २ |
| ४ | उत्तरपक्ष | ३ |
| ५ | आत्मा की निर्लेपता का खण्डन | ४ |
| ६ | ईश्वरमतियों का मत | ४ |
| ७ | बौद्धमत का खण्डन | १० |
| ८ | याज्ञिकी हिंसा धर्म नहीं है | ११ |
| ९ | अद्वैतमत की समीक्षा | १३ |
| १० | आत्मा का लक्षण | १४ |
| ११ | आत्मा का अस्तिनास्तित्व और गुणागुणत्व | १५ |
| १२ | आत्मा का भेद व अमूर्तिकत्व में अनेकान्त | १५ |
| १३ | आत्मा का एकानेकत्व | १७ |
| १४ | नित्यत्व और शून्यत्व के प्रति अनेकान्त | १८ |
| १५ | चेतनत्व और वाच्यत्व के प्रति अनेकान्त | १९ |
| १६ | आत्मा भावाभाव वाला और नित्यानित्य है | २० |
| १७ | आत्मा का तनुप्रमाणत्व और सर्वगतत्व | २० |
| १८ | आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व | २१ |
| १९ | आत्मा व्यक्ताव्यक्त व ग्राह्य-ग्राहक है | २२ |
| २० | आत्मविषयक अनेकान्तात्मकता | २४ |
| २१ | नय और प्रमाण का लक्षण | २५ |

| | | |
|---|---|---|
| २२ | नयों का विस्तार | २५ |
| २३ | प्रमाण के भेद | २७ |
| २४ | सप्तभंगी | २८ |
| २५ | मोक्ष का स्वरूप | ३० |
| २६ | मोक्ष के साधन | ३२ |
| २७ | आत्मशुद्धि की प्रक्रिया | ३३ |
| २८ | सम्यग्दर्शन का लक्षण | ३४ |
| २९ | सम्यग्ज्ञान का लक्षण | ३५ |
| ३० | सम्यक्चारित्र का लक्षण | ३६ |
| ३१ | रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है | ३८ |
| ३२ | उपसंहार | ४० |
| ३३ | अंग्रेजी अनुवाद | ४१ |
| ३४ | श्लोकानुक्रमणिका | ५८ |
| ३५ | हमारे उपलब्ध साहित्य | ६१ |

# स्वतन्त्रवचनामृतम्

जीवाजीवैक भावाय, प्राणैर्भावतदन्यकैः ।
कार्यकारणमुक्तं तं, मुक्तात्मानं उपास्महे ।।१।।

***अर्थ :-***

भावप्राणों से युक्त जीव और उससे रहित अजीव का वर्णन करने वाले, कार्य–कारणभाव से मुक्त मुक्तात्माओं की हम उपासना करते हैं ।

**विशेषार्थ :-**

जीव और अजीव तत्त्व के प्ररूपक, परद्रव्य के साथ कार्य और कारणभाव से मुक्त परमात्मा की हम उपासना करते हैं ।

अथ मोक्ष स्वभावाप्तिरात्मनः कर्मणां क्षयः ।
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रैः, अविनाभावलक्षणैः ।।२।।

***अर्थ :-***

अविनाभाव लक्षण वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के द्वारा स्वभाव को प्राप्त हुए आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है ।

**विशेषार्थ :-**

जैनागम के महाग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम सूत्र के द्वारा मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए आचार्य भगवन्त श्री उमास्वामी महाराज ने लिखा है –

***सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।***

**अर्थात् :-** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों समुदितरूप से मोक्ष का मार्ग है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को

जैनागम में रत्नत्रय की संज्ञा प्रदान की गयी है । रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को आत्मस्वभाव की प्राप्ति होती है, उससे कर्मों का समूल विनाश हो जाता है ।

कारिका में **अविनाभाव लक्षण** इस शब्द का प्रयोग किया गया है । इसका अर्थ **अभेदरूप से** ऐसा करना चाहिये ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यदि भिन्न-भिन्न हों तो उनसे मोक्ष नहीं होता। तीनों में पूर्णत्व की उपलब्धि ही स्वभाव की प्राप्ति है । जब कुछ प्राप्त होता है, तब कुछ छुटता भी है । स्वभाव की प्राप्ति के समय कर्मों की निवृत्ति हो जाती है ।

यही बात ग्रन्थकर्त्ता ने अपनी कारिका में स्पष्ट की है ।

सति धर्मिणि तद्धर्मा:, चिन्त्यन्ते विबुधैरिह ।
भोक्त्रभावे ततः कस्य, मोक्षः स्यादिति नास्तिकः ।।२।।

***अर्थ :-***

नास्तिक मतावलम्बी कहता है कि इस लोक में धर्मी का सद्भाव होने पर ही धर्म का विचार करते हैं, क्योंकि भोक्ता के अभाव में किसे मोक्ष हो सकता है ? अर्थात् किसी को भी नहीं ।

## विशेषार्थ :-

चार्वाक मतावलम्बी को नास्तिक कहा जाता है, क्योंकि वे परलोक व जीवादि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं । वे जीव को पंचमहाभूतों से निष्पन्न हुआ मानते हैं । उस मत के अनुसार जिसप्रकार मादक पदार्थों से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसीप्रकार पाँच भूतों से जीव की उत्पत्ति होती है । यदि उन भूतों का विनाश हो जाता है तो चैतन्य का भी नाश हो जाता है ।

धर्मी का सद्भाव होने पर ही धर्म का विचार करना उचित है । जब आत्मा नामक धर्मी की सत्ता ही नहीं है, तब धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप आदि धर्मों का अभाव स्वयमेव ही सिद्ध हो जाता है ।

इस कारिका में चार्वाक मत के शिष्य के द्वारा पूर्वपक्ष

उपस्थित किया गया है कि लोक में

अस्त्यात्मा चेतनो द्रष्टा, पृथ्व्यादेरनन्वयात् ।
पिशाचदर्शनादिभ्योऽनादि शुद्धः सनातनः ॥४॥

## अर्थ :-

आत्मा चेतन, द्रष्टा, पृथ्वी आदि से भिन्न (पंचमहाभूतों से रहित), पिशाचादि (चार्वाक आदि अन्य) मतों में प्रकट किये गये स्वरूप से भिन्न, अनादि, शुद्ध और सनातन है ।

## विशेषार्थ :-

अनन्तरपूर्व कारिका में चार्वाक मतवादी ने अपने पक्ष को प्रस्तुत किया था । अब करुणाधारी आचार्यदेव आत्मा के स्वरूप को समझाते हुए इस कारिका की रचना कर रहे हैं ।

आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्मा चेतन, द्रष्टा, पृथ्वी आदि से भिन्न , पिशाचादि मतों में प्रकट किये गये स्वरूप से भिन्न, अनादि, शुद्ध और सनातन है ।

आत्मा में ज्ञान और दर्शन नामक गुण हैं । उन गुणों के कारण आत्मा स्वयं स्वभाव से ही चेतन है ।

आत्मा में तीन लोक के समस्त पदार्थों को देखने की शक्ति है । इसलिए आत्मा द्रष्टा है ।

चार्वाक मत में वर्णित पाँच महाभूतों से आत्मा के उत्पत्ति की कल्पना अनुचित है, क्योंकि उपादान कारण के समान ही कार्य होता है । पाँच महाभूतों में ईरण, द्रव, उष्णता आदि मूर्त धर्म पाये जाते हैं । वे धर्म जीव में भी पाये जाने चाहिये परन्तु ऐसा है नहीं ।

अग्नि पर रखी हुई हण्डी में उड़द पकाया जा रहा है । उससमय उस स्थान पर पाँचों भूतों की उपस्थिति है परन्तु वहाँ जीव नहीं है । इससे भी सिद्ध होता है कि जीव की उत्पत्ति पाँच महाभूतों से नहीं होती है ।

प्रत्येक द्रव्य नित्य होता है । न उनका उत्पाद होता है और न व्यय होता है । अतः आत्मा अनादि और सनातन है ।

आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से स्फटिकमणि के समान सर्वदा शुद्ध है । यद्यपि कर्मबन्ध की अपेक्षा से आत्मा में अशुद्धता है परन्तु वह अशुद्धता पर के निमित्त से उत्पन्न हुई है । आत्मा उसे नष्ट करके सदा-सदा के लिए शुद्ध हो सकता है । इसलिए आत्मा शुद्ध है ।

स निर्लेपः कथं सौख्यस्मारक्रोधादिकारणात् ।
देह एवादि हेतुभ्यः, कर्त्ता भोक्ता च नेश्वरः ॥५॥

***अर्थ :-***

वह आत्मा सौख्य, वासना और क्रोधादि कारणों से निर्लेप कैसे हो सकता है ? देहादि हेतुओं के कारण ईश्वर कर्त्ता और भोक्ता नहीं है ।

**विशेषार्थ :-**

योगमतानुयायी आत्मा को निर्लेप मानते हैं । आचार्यदेव उनसे प्रश्न करते हैं कि जिसमें सौख्य, वासना और क्रोध आदि का सद्भाव पाया जाता है, वह निर्लेप कैसे हो सकता है ?

देहादि को ईश्वर का कर्तृत्व मानकर ईश्वर को कर्त्ता और भोक्ता मानना भी उचित नहीं है ।

ईश्वराभावतस्तस्मिन्, न तत्त्वं प्रसिद्ध्यति ।
साधनासम्भवात् सोऽपि, ब्रूते योगमतिष्टिकृत् ॥६॥

***अर्थ :-***

योगमतावलम्बी कहता है कि ईश्वर का अभाव मानने पर देहादि की उत्पत्ति असंभव है, क्योंकि साधन के अभाव में साध्य का भी अभाव हो जाता है ।

**विशेषार्थ :-**

अनन्तरपूर्व कारिका में ग्रन्थकर्त्ता ने कहा था कि ईश्वर को देहादिक का कर्त्ता नहीं मानना चाहिये । इस कथन को सुनकर

योगमतावलम्बी कहता है कि साधन के अभाव में साध्य का अभाव हो जाता है । यदि ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानना अनुचित ही होगा, क्योंकि वह एक कार्य है । कार्य का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है । आपके वचनों के अनुसार ईश्वर का अभाव मानने पर तो देहादि की उत्पत्ति असंभव ही हो जायेगी ।

(पूर्वपक्षकार के वचनों को प्रस्तुत करने के बाद आचार्य परमेष्ठी का उत्तर नहीं पाया जाना यहाँ आश्चर्य को उत्पन्न करता है । मैं स्याद्वाद मंजरी का सहयोग लेकर खण्डन पक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ । :- अनुवादक )

पूर्वपक्षकार का कथन है कि

***उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमत्कर्तुकं, कार्यत्वात् , यद् यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तुकं, यथा घटः, तथा चेदं, तस्मात् तथा । व्यतिरेके व्योमादि । यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्त्ता स भगवानीश्वर एवेति ।***

**अर्थात् :-** पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्त्ता के बनाये हुवे हैं, क्योंकि ये कार्य हैं । जो-जो कार्य होते हैं, वे सब किसी बुद्धिमान कर्त्ता के बनाये हुए होते हैं, जैसे - घट आदि कार्य हैं, इसलिए ये किसी बुद्धिमान के द्वारा बनाये हुए होने चाहिये । व्यतिरेक के रूप में आकाश आदि कार्य नहीं हैं, इसलिए आकाश आदि को किसी बुद्धिमान कर्त्ता ने बनाया हुआ नहीं है । जो कोई बुद्धिमान इन पदार्थों का कर्त्ता है, वह भगवान ईश्वर ही है ।

***स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात् ? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः, तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः ।***

***द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्, आहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम् ? प्रथमप्रकारः कोश -पानप्रत्यायनीयः, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् । इतरेतराश्रय***

दोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। द्वैतीयिकस्तु प्रकारो न सञ्चरत्येव विचारगोचरे, संशयानिवृत्तेः। किं तस्या–सत्त्वाददृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किं वास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात् पिशाञ्चवदिति निश्चयाभावात्।

अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः। अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृतौ कुतः सामर्थ्यम्? आकाशादिवत्। तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्व हेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत्। बहूनामेककार्यकरणे वैमत्य – सम्भावना इति नायमेकान्तः। अनेक कीटिकाशत निष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वतितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे। एवं चेद् भवता भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना, तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एक किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतु शक्यम्। तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत् तेषामसदृश तादृश प्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते तस्माद् वैमत्य भयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्यय भयात् कृपण – स्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानी – सेवनमिवाभासते।

स हि यदि नाम स्वाधीनः, सन् विश्वं विधत्ते, परम कारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत् कथं सुखितदुःखिताद्य – वस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव

तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जित तत्तत्दीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति, दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः।

कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्ट हेतुकविष्टप सृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वादस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथा चायातोऽयं घट्कुट्यां प्रभातम् इति न्यायः। किञ्च, प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति, प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति। न हि कुलालो दण्डादि करोति। एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादीति।

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृतिः स्वार्थकरुणाभ्यां व्याप्ता। ततः चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा ? न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्, परदुःख प्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। ततः प्राक् सर्गाज्जीवा नामिन्द्रिय शरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्यकारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमि - तरेतराश्रयम्, कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति।

**अर्थात् :-** ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है, अथवा शरीररहित होकर? यदि ईश्वर ने शरीर धारण करके जगत् को बनाया है, तो वह शरीर हम लोगों की तरह दृश्य था अथवा पिशाच आदि की तरह अदृश्य ? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है। हमें ऐसा कोई दृश्य शरीर वाला ईश्वर दिखाई नहीं देता जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल आदि की सृष्टि करता हो। इसलिये 'जहाँ-जहाँ कार्यत्व है वहाँ-वहाँ सशरीरकर्तृत्व है' यह व्याप्ति नहीं बनती। कार्यत्व हेतु यहाँ साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यदि कहो कि ईश्वर पिशाच आदि के समान अदृश्य शरीर से जगत् की सृष्टि करता है तो इस शरीर के अदृश्य होने में ईश्वर का माहात्म्यविशेष कारण है,

अथवा हम लोगों का दुर्भाग्य ? प्रथम पक्ष विश्वास के योग्य नहीं है , क्योंकि ईश्वर के अदृश्य शरीर सिद्ध करने में कोई प्रमाण नहीं है। तथा ईश्वर के माहात्म्यविशेष सिद्ध होनेपर उसके अदृश्य शरीर सिद्ध हो, और अदृश्य शरीर सिद्ध होनेपर माहात्म्यविशेष सिद्ध हो, इसप्रकार इतरेतराश्रय दोष भी आता है। यदि कहो कि हम लोगों के दुर्भाग्य से ईश्वर का शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता तो यह भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि वन्ध्यापुत्र की तरह ईश्वर का अभाव होने से उसका शरीर दिखाई नहीं देता, अथवा जिसप्रकार हमारे दुर्भाग्यवश पिशाच आदि का शरीर दिखाई नहीं देता, वैसे ही ईश्वरका शरीर भी अदृश्य है? इस तरह कुछ भी निश्चय नहीं होता।

तथा ईश्वर को अशरीरस्रष्टा मानने में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक विषम हो जाते हैं, क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ता के बनाये हुए ही देखे जाते हैं। फिर आकाश की तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करने में समर्थ हो सकता है? (तात्पर्य यह कि 'जगत् अशरीर ईश्वर का बनाया हुआ है, कार्य होने से घट की तरह' इस अनुमान में घट दृष्टान्त और जगत् दार्ष्टान्तिक में समता नहीं है, क्योंकि घट सशरीर का बनाया हुआ माना जाता है। तथा जिसतरह अशरीरी आकाश कोई कार्य आदि नहीं कर सकता, उसी तरह अशरीरी ईश्वर भी कार्य करने में असमर्थ है।) इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षों में कार्यत्व हेतु की सकर्तृकत्व साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

**बहुत-से ईश्वरों द्वारा जगत्रूप एक कार्य के किये जानेपर ईश्वरों में मति का भेद उत्पन्न होगा** यह कथन एकान्त-सत्य नहीं है, क्योंकि सैकड़ों कीड़ियाँ एक ही वामी को बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महल को बनाते हैं, बहुत सी मधुमक्खी एक ही शहद के छत्ते का निर्माण करती हैं, फिर भी वस्तुओं की एकरूपता में कोई विरोध नहीं आता। यदि वादी कहे कि वामी, प्रासाद आदि का कर्ता भी ईश्वर ही है, तो इससे ईश्वर के प्रति आप लोगों की निरुपम श्रद्धा ही प्रगट होती है, और इसतरह तो जुलाहे और कुम्भकार आदि को घट और पट आदि का कर्ता न मानकर ईश्वर को ही इनका भी कर्ता मानना चाहिये। यदि आप कहें कि पट घट आदि के कर्ता जुलाहा और कुम्भकार प्रत्यक्षसिद्ध कर्तृत्व का अपलाप कैसे किया जा सकता है? तो फिर कीटिका आदि को वामी आदि का कर्ता मानने में क्या दोष है? कीटिका आदि ने आप लोगों का क्या अपराध किया है, जो आप उनके असाधारण परिश्रम से साध्य कर्तृत्व को एक चुटकी में ही उड़ा

देना चाहते हैं? इसलिए परस्पर मतिभेद होने के भय से जो एक ईश्वर की कल्पना है, वह भोजन आदि व्यय के डर से कृपण पुरुष के अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र और स्त्री आदि को छोड़कर शून्य जंगल में वास करने के समान है। जैसे कोई कृपण पुरुष खर्च के भय से अपने स्त्री-पुत्रादि को छोड़कर वन में चला जाय, उसी तरह मतिभेद के भय से आप लोग भी एक ईश्वर की कल्पना करते हैं।

यदि ईश्वर स्वाधीन होकर जगत् को रचता है और वह परम दयालु है, तो वह सर्वथा सुख-सम्पदाओं से परिपूर्ण जगत् को न बनाकर सुख-दुःखरूप जगत् का सर्जन क्यों करता है? यदि कहो कि जीवों के जन्मान्तर में उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों से प्रेरित ईश्वर जगत् को बनाता है, तो फिर ईश्वर के स्वाधीनत्व का ही लोप हो जाता है।

तथा, संसार की विचित्रता को कर्मजन्य स्वीकार करने पर सृष्टि को ईश्वरजन्य मानना केवल कष्टरूप ही है। इससे अच्छा तो आप हमारा ही मत स्वीकार कर लें। तथा हमारे मत को स्वीकार करने पर आपको **घटकुट्यां प्रभातम्** न्याय का प्रसंग होगा। (अर्थात्- जैसे कोई मनुष्य महसूलि सामान का महसूल न देने के विचार से रास्ते में आने वाले चुंगीघर को छोड़कर किसी दूसरे रास्ते से शहर के भीतर जाने के लिये रातभर इधर-उधर चक्कर मारकर प्रातःकाल फिर से उसी चुंगीघरपर जा पहुँचता है(घटकुट्यां प्रभातम्),उसीप्रकार आप लोगों ने ईश्वरको जगत् का नियन्ता सिद्ध करने में बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर आखिर में हमारा ही मत स्वीकार करना पड़ा।) तथा, ईश्वर जीवों के पुण्य-पाप की अपेक्षा रखता हुआ जगत् को बनाता है तो वह जिसकी अपेक्षा रखता है उसको नहीं बनाता। जैसे कुम्हार घट के बनाने में दण्ड की सहायता लेता है, इसलिये वह दण्ड को नहीं बनाता, उसतरह यदि ईश्वर जगत् के बनाने में कर्मों की अपेक्षा रखता है, तो वह कर्मों के बनाने वाला नहीं कहा जा सकता। अतएव ईश्वर अनीश्वर (असमर्थ) है, स्वतन्त्र नहीं।

तथा, बुद्धिमान पुरुषों की प्रवृत्ति स्वार्थ {किसी प्रयोजन से} अथवा करुणाबुद्धिपूर्वक ही होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि जगत् की सृष्टि में ईश्वर स्वार्थ से प्रवृत्त होता है अथवा करुणा से ? स्वार्थ से ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह कृतकृत्य है। यह प्रवृत्ति करुणा से भी सम्भव नहीं, क्योंकि दूसरे के दुःखों को दूर करने की इच्छा को करुणा कहते हैं। परन्तु ईश्वर के सृष्टि रचने से पहले जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों का अभाव था, इसलिये जीवों के दुःख

भी नहीं था, फिर किस दुःख को दूर करने की इच्छा से ईश्वर के करुणा का भाव उत्पन्न हुआ ? यदि कहो कि सृष्टि के बाद दुःखी जीवों को देखकर ईश्वर के करुणा का भाव उत्पन्न होता है, तो इतरेतराश्रय नामका दोष आता है, क्योंकि करुणा से जगत् की रचना हुई, और जगत् की रचना से करुणा हुई। इस प्रकार ईश्वर के किसी भी तरह जगत् का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

इसतरह इस कारिका में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की मान्यता को खण्डित किया गया है ।

सत्वात् क्षणिक एवासौ, तत्फलं कस्य जायते ।
अपि दुर्ग्रहीत एवैतत् , प्रत्यभिज्ञादिबाधकात् ।।७।।

***अर्थ :-***

जीव क्षणिक होने से उसके द्वारा किये गये कर्मों का फल कौन भोगता है? ऐसा दुराग्रह करने वाले बौद्धों की मान्यता झूठी है, क्योंकि वह मान्यता प्रत्यभिज्ञान से बाधित है ।

**विशेषार्थ :-**

बौद्धानुयायी कहते हैं कि सम्पूर्ण वस्तुयें क्षणस्थायी हैं । उनका मत है कि संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है । प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होने के दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना ही वस्तु का स्वभाव है । पदार्थों की नित्यता जो दृष्टिगोचर होती है, वह भ्रममात्र है । जिसप्रकार दीपक की ज्योति प्रतिक्षण बदलती रहती है परन्तु समान आकार की ज्ञानपरम्परा से यह वही ज्योति है ऐसा प्रतिभास होता है, उसीप्रकार प्रत्येक वस्तु क्षणभर में नष्ट होते हुए भी हमें वह स्थिर प्रतीत होती है । वस्तु को नित्य मानने पर वस्तु में अर्थक्रिया का अभाव हो जायेगा । जिसमें अर्थक्रिया नहीं होती, वह वस्तु सत् कैसे हो सकती है ? अतः वस्तु के क्षणिक मानना ही उचित है ।

जैनाचार्य उन्हें समझाते हैं कि आपका यह ऐकान्तिक कथन युक्ति से अबाधित नहीं है । बौद्धमान्यता का पोषण करने पर पाँच दोष लगते हैं । यथा-

1:- **कृतप्रणाश :** वस्तु जिस क्षण में उत्पन्न हुई थी यदि उसी समय नष्ट हो जाती हो तो उस क्षण में किये कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ेगा। इसतरह किये हुए कर्म के फल का विनाश हो जायेगा।

2:- **अकृतकर्मभोग :** जिस विचारक्षण ने कर्मों को नहीं किया, उस विचारक्षण को बिना किये हुए कर्मों के फल को भोगने का प्रसंग उपस्थित होने के कारण से अकृतकर्मभोग नामक महान दोष उत्पन्न होगा ।

3:- **परलोकाभाव :** पूर्वजन्म में किये हुए कर्म के फल से परलोक की प्राप्ति होती है । बौद्धमत में द्रव्य का उसी क्षण में नष्ट हो जाने के कारण वस्तु के साथ उसके कर्म भी नष्ट हो जायेंगे । ऐसे समय में परलोक कैसे सम्भव हो सकता है ?

4:- **मोक्षाभाव :** द्रव्य क्षणस्थायी होने से वह तप और त्यागादि में प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा । उसके बिना कर्मनाश होकर मोक्ष नहीं हो सकता । इसतरह बौद्धमत को मानने पर मोक्ष के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा ।

5:- **स्मृतिभंग :** पूर्व ज्ञान के व्दारा अनुभूत पदार्थ का पुनः स्मरण करने को स्मृति कहते हैं । पूर्व ज्ञान के आधारस्वरूप द्रव्य का क्षणभर में नाश हो जाने के कारण से परवर्ती क्षणों में स्मृति की असंभवता माननी पड़ेगी । ऐसा मानने पर सम्पूर्ण लोकव्यवहार का विलोप हो जायेगा ।

ग्रन्थकार ने बौद्धदर्शन में सबसे बड़ा दोष प्रत्यभिज्ञान का अभाव ही माना है । स्मृतिभंग को ही प्रत्यभिज्ञान का अभाव समझना चाहिये ।

श्रुतप्रामाण्यतः कर्म क्रियते हिंसादिना युतम्
वृथेति अर्पैति न ------सम्भवात् ॥८॥

***अर्थ :-***

वेदादि श्रुत को प्रमाण मानकर उसके आधार से यज्ञादि कर्म में होने वाली हिंसा को युक्त मानने वालों की मान्यता वृथा है, क्योंकि उसमें धर्म की असंभवता है ।

## विशेषार्थ :-

जैमिनीय (पूर्व मीमांसक) मतानुगामी मानता है कि वेदादि शास्त्रों में कही हुई हिंसा अधर्म नहीं है । उनका मानना है कि हिंसाजीवी व्याध आदि की हिंसा अथवा लोभ या व्यसन से की हुई हिंसा पापबन्ध का कारण है, क्योंकि इसप्रकार की हिंसा प्रमादादि दोषों के कारण होती है । वेदादि शास्त्रों में प्रतिपादित की गई हिंसा धर्म का ही कारण है, क्योंकि उससे देव, अतिथि अथवा पितरों को आनन्द पहुँचता है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि उनका कथन किसीप्रकार भी उचित नहीं है । यह कथन मेरी माता वन्ध्या है ऐसे कहने के समान ही स्व-वचनबाधित है ।

हिंसा करने वाले का धर्म नहीं हो सकता । यदि हिंसा करने से पुण्य का लाभ होता हो तो अहिंसा, दान आदि सद्कार्य से क्या पापबन्ध होगा ?

सांख्य लोगों ने भी कहा भी है कि -

***यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।***
***यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ।।***

**अर्थात् :-** यदि यज्ञ में पशुओं को काटकर, पशुओं का वध करकर, रक्त से पृथ्वी का सिंचन करके स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती हो तो फिर नरक जाने के लिए कौनसा मार्ग बचेगा ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

जैनदर्शन को किसी दर्शन से द्वेष नहीं है । अन्य दर्शनकारों ने धर्म के नाम पर जिस अधर्म का प्रचार किया है, उसका खण्डन करके भव्य जीवों को सम्यक् मार्गदर्शन करना ही जैनागम का मुख्य हेतु है । मनुस्मृति के तीसरे और पाँचवें अध्याय में, त्रिपुरार्णव तन्त्र में और याज्ञवल्क स्मृति के आचाराध्याय आदि ग्रन्थों में देव, यज्ञ, अतिथि या पितरों के नाम पर हिंसा का प्रकटरूप से समर्थन किया गया है ।

अतः श्रुति और स्मृतियों में हिंसा करने को उचित माना गया है, ऐसा विचार करके हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

**अद्वैतसाधनं नास्ति, द्वैतापत्तिस्तदन्यथा ।**
**न्यूनादिति आच्छबोधादेर्देहिनामिति जैनधी: ॥९॥**

***अर्थ :-***

अद्वैत को सिद्ध करने वाला कोई साधन नहीं है । यदि अद्वैत को सिद्ध करने वाला साधन मानोगे तो साधन और साध्य इसतरह द्वैत का प्रसंग प्राप्त होगा ।

साधन की न्यूनता से शरीरधारियों को निर्मल ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती यह जैनमान्यता है ।

***विशेषार्थ :-***

अद्वैतमत के अनेक भेद हैं । उनमें विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि प्रमुख हैं ।

इस कारिका में ग्रन्थकार स्पष्ट कर रहे हैं कि अद्वैतसिद्धान्त प्रमाणबाधित है । दर्शनशास्त्र में प्रत्येक विषय को सिद्ध करना आवश्यक होता है । साध्य की सिद्धि के लिए साधनों की आवश्यकता होती है । अद्वैत में या तो साध्य ही होगा या साधन ही होगा । इसतरह अद्वैतरूप साध्य की सिद्धि करने वाला कोई साधन ही नहीं हो सकता । यदि दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया जायेगा तो साधन और साध्य में द्वैतभाव की प्राप्ति होगी । बिना साधन के तो किसी साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती ।

आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है -

***हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्, द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययो: ।***
***हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥***

***(आप्तमीमांसा :- २६)***

**अर्थात् :-** यदि हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि मानी जाय तो हेतु और साध्य का द्वैत सिद्ध होता है । यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि को माना जाये तो वचनमात्र से द्वैत की सिद्धि को क्यों न माना जाय ?

इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैतदर्शन की मान्यता युक्तिसंगत नहीं है ।

द्रष्टा ज्ञाता प्रभुः कर्त्ता, भोक्ता चेति गुणी च सः ।
विस्रसोर्ध्वगतिः ध्रौव्यव्ययोत्पत्तियुगक्षमः ॥१०॥

***अर्थ :-***

वह आत्मा द्रष्टा, ज्ञाता, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, गुणी, स्वभाव से ऊर्ध्वगति वाला तथा ध्रौव्य-व्यय और उत्पाद से संयुक्त है ।

**विशेषार्थ :-**

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है । उनमें से कुछ गुणों को प्रधान करके आत्मा के स्वरुप को प्रस्तुत कारिका के माध्यम से समझाया जा रहा है ।

इस कारिका में आत्मा के आठ गुणों का व्याख्यान किया गया है ।

1:- **दृष्टा** : आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से तीन लोक को देखने वाला होने से दृष्टा है ।

2:- **ज्ञाता** : आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से तीन लोक को जानने वाला होने से ज्ञाता है ।

3:- **प्रभु** : आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से तीन लोक का स्वामी अथवा अपने समस्त स्वाभाविक गुणों का स्वामी होने से प्रभु है ।

4:- **कर्त्ता** : शुद्धनिश्चयनय से आत्मा अपने शुद्धभावों का, अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा भावकर्मों का व व्यवहार नय से आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है ।

5:- **भोक्ता** : निश्चयनय से आत्मा चैतन्यभावों का और व्यवहारनय से कृतकर्मों का फल भोगने वाला होने से भोक्ता है ।

6:- **गुणी** : अनन्त गुणों से सम्पन्न होने से आत्मा को गुणी कहते हैं ।

7: **स्वभाव से ऊर्ध्वगति वाला** : जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व गमन करने की है । मुक्तिधाम को प्राप्त करते समय जीव ऊर्ध्वगति से गमन करता है ।

8: **उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त** : आत्मा में नित्य नवीन

पर्यायों की उत्पत्ति होती है, भूतकालीन पर्यायों का व्यय होता है और स्वभाव में ध्रौव्यत्व बना रहता है । अतः आत्मा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है ।

अस्तिनास्ति स्वभावोऽसौ, धर्मैः स्वपरसम्भवैः ।
गुणागुणस्वरूपश्च, स्वविभावगुणैर्भवेत् ॥११॥

***अर्थ :-***

वह आत्मा स्वभाव की अपेक्षा से अस्ति है, परभाव के कारण से नास्ति है । स्व-स्वरूप की अपेक्षा से गुणी है और विभाव की अपेक्षा से निर्गुणी है ।

***विशेषार्थ :-***

अन्य एकान्तवादी आत्मा को अस्तिरूप मानते हैं या नास्तिरूप मानते हैं । वे आत्मा को या तो गुणी मानते हैं या निर्गुणी मानते हैं । उनकी ये मान्यतायें वस्तुतत्त्व से अतिशय असंगत हैं । उन्हें सम्यग्बोध प्रदान करते हुए आचार्य महर्षि समझाते हैं कि – आत्मा स्व-स्वभाव की अपेक्षा से अस्तिस्वरूप है और परभाव के कारण से नास्तिस्वरूप है ।

आत्मा में ज्ञानादि अनन्त गुण पाये जाते हैं । उन स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा से आत्मा गुणी है । आत्मा में किसी प्रकार का विभाव नही है । परद्रव्य के गुण आत्मा में नहीं रहते हैं । उन वैभाविक अथवा परद्रव्य के गुणों की अपेक्षा आत्मा निर्गुणी है ।

व्यपदेशादिभिर्भिन्नः, सुखादिभ्योऽपरस्तथा ।
प्रदेशैर्बन्धतो मूर्तिरमूर्तस्य तदन्यथा ॥१२॥

***अर्थ :-***

नामादि के कारण आत्मा में व गुणों में भिन्नत्व है, क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा सुखादि से अभिन्न है। पुद्गलप्रदेशों से बद्ध होने के कारण आत्मा मूर्तिक है और स्वभाव से अमूर्तिक है ।

**विशेषार्थ :-**

गुण और गुणी में कथंचित् भेद पाया जाता है ।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

***ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।***
***ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते।।***

***(पंचास्तिकाय-४६)***

**अर्थात् :-** द्रव्य और गुणों में गुण-गुणी भेद होता है। वे कथनभेद, आकारभेद, गणनाभेद और आधारभेद से कथंचित् भिन्न हैं। वे कथंचित् अभिन्न भी हैं।

जैसे – आत्मा गुणी एवं ज्ञान गुण है, अतः उन दोनों में कथंचित् भेदाभेदत्व है।

संज्ञाभेद : आत्मा व ज्ञान, इसतरह दोनों में संज्ञाभेद है।

लक्षणभेद : आत्मा का लक्षण चेतना व ज्ञान का लक्षण जानना है, यह दोनों में लक्षणभेद है।

संख्याभेद : आत्मा एक है। ज्ञान के पाँच भेद हैं। यह संख्याभेद है।

विषयभेद : आत्मा आधार है। ज्ञान आधेय है। यह विषयभेद है।

इस अन्तर की अपेक्षा से ही आत्मा का अपने सुखादि गुणों से कथंचित् भिन्नत्व है । प्रत्यक्षतः भी भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । प्रत्येक गुण की भूतकाल में अनन्त पर्यायें हो चुकी हैं, भविष्यकाल में भी प्रतिक्षण एक-एक के क्रम से अनन्त काल तक अनन्त पर्यायों की उत्पत्ति होगी । ऐसी स्थिति में आत्मा भूत और भविष्यकालीन पर्यायों से भिन्न सिद्ध हो गया । ऐसा होते हुए भी गुण आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहते हैं । तादात्म्य सम्बन्ध के कारण से आत्मा उन गुणों से अभिन्न है ।

आत्मा कर्मों से आबद्ध हुआ है । इसकारण से आत्मा मूर्त है परन्तु स्वभाव से आत्मा अमूर्त है ।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी लिखते हैं –

***वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।***

***णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।***

***(द्रव्यसंग्रह–७)***

**अर्थात् :– निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं है, इसलिये जीव अमूर्त्त है और बन्ध के कारण से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त्त है।**

अस्तु, इस कारिका में अनेकान्त पद्धति से आत्मा का अपने गुणों के साथ भिन्नत्व और अभिन्नत्व सिद्ध किया गया है तथा आत्मा का अमूर्तिकत्व के प्रति अनेकान्त दर्शाया गया है ।

जातिशक्त्यैकस्स चैतन्यैकः स स्यादनेकताम् ।
आप्नोति वृत्तिसद्भावैर्नाना ज्ञानात्मना ततः ।।१३।।

***अर्थ :–***

वह आत्मा चैतन्यजाति की शक्ति के कारण एक ही है परन्तु अनेक पदार्थों को जानने वाले वृत्ति से सम्पन्न ज्ञान वाला होने से आत्मा अनेकपने को प्राप्त हो जाता है ।

***विशेषार्थ :–***

अन्यमतावलम्बी शिष्य प्रश्न कर रहा है कि एक और अनेक ये परस्पर विरोधि दो धर्म हैं । जो एक होगा, उसमें अनेकत्व का अभाव होगा और जो अनेक होगा, उसमें एकत्व नहीं पाया जा सकता । ऐसी स्थिति में जैनागम में निरूपित आत्मा का एकानेकत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

आचार्यदेव उस नयानभिज्ञ शिष्य को सम्बोधित करते हैं कि चैतन्यजाति की अपेक्षा से आत्मा एक है परन्तु उस आत्मा में अनेक पदार्थों को जानने वाला ज्ञान विद्यमान है । उस ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा में अनेकत्व भी घटित हो जाता है ।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने लिखा है –

***नानाज्ञानस्वभावत्वादेकोऽनेकोऽपि नैव सः।***

***चेतनैकस्वभावत्वादेकानेकात्मको भवेत।।***

***(स्वरूप सम्बोधन-६)***

**अर्थात्** :- यह आत्मा अनेक प्रकार के ज्ञानस्वरूप होने से अनेक होते हुए भी एक चेतना-स्वभाव होने से एक होता हुआ भी सर्वथा एक नहीं है। किन्तु एक तथा अनेकात्मक होता है।

इसतरह इस कारिका के व्दारा जीव का एकानेकत्व अनेकान्त पद्धति से सिद्ध किया गया है ।

क्षणैकः स्वपर्यायैर्नित्यैः गुणैरक्षणिकस्तथा ।
शून्यः कर्मभिः आनन्दादशून्यः स मतः सताम् ।।१४।।

***अर्थ :-***

आत्मा अपनी पर्यायों के कारण से अनित्य है तथा अपने स्थायी गुणों के कारण से नित्य है। आत्मा कर्मों से शून्य और आनन्दादि गुणों के कारण से अशून्य है ऐसा सज्जनों का मत है।

***विशेषार्थ :-***

आत्मा नित्य है कि अनित्य है ? आत्मा शून्य है कि अशून्य है ? ऐसे परस्पर विरोधि दो प्रश्नों के उपस्थित होने पर आचार्यदेव नयविवक्षा के व्दारा उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं । आत्मा अपने अनन्त स्वाभाविक गुणों से परिपूर्ण है । उन गुणों का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है । उन गुणों की अपेक्षा से आत्मा नित्य है । आत्मा पर्यायरूप भी है । पर्याय क्षणध्वंसी होती है । अतः पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है ।

द्रव्य की नित्यता और अनित्यता को समझाते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र जी सुविधिनाथ भगवान की स्तुति करते समय लिखते हैं -

***नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-***
***र्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।***
***न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग***
***निमित्त-नैमित्तिकयोगतस्ते।।***

***(स्वयम्भूस्तोत्र-४३)***

अर्थात् :- हे भगवन्! **यह वही है** इसप्रकार प्रतीत होने से तत्त्व नित्य है और **यह अन्य है** इसप्रकार प्रतीत होने से नित्य नहीं है तथा आपके मत में बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारण और कार्य के योग से वह नित्यानित्यात्मक तत्त्व विरुद्ध भी नहीं है।

आत्मा कर्मों और उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले विकारों से शून्य है परन्तु अपने ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, सूक्ष्मत्व आदि गुणों से सदैव सम्पन्न रहता है । अतः वह अशून्य भी है ।

चेतनः सोपयोगत्वात्, प्रमेयत्वादचेतनः ।
वाच्यः क्रमविवक्षायामवाच्यो युगपद्गिरः ॥१५॥

***अर्थ :-***

आत्मा उपयोग के कारण से चेतन है और प्रमेय होने से अचेतन है । क्रमविवक्षा से आत्मा वाच्य है और युगपद् वचन की अपेक्षा से अवाच्य है ।

***विशेषार्थ :-***

आत्मा चेतन है कि अचेतन है ? आत्मा वाच्य है कि अवाच्य है ? अन्यमतावलम्बी शिष्य के द्वारा इसप्रकार के प्रश्न उपस्थित किये जाने पर आचार्य भगवन्त उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि उपयोग के कारण आत्मा चेतन है और प्रमेय होने के कारण से आत्मा अचेतन है ।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने लिखा है -

***प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।***
***ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥***

***(स्वरूप सम्बोधन-३)***

**अर्थात् :- वह आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों के द्वारा अचेतनरूप है, ज्ञान और दर्शनगुण से चेतनरूप है। इस कारण आत्मा चेतन और अचेतनरूप है।**

आत्मा में अनेक गुण हैं । एक-एक का विवेचन क्रम से

किया जावे तो उनका वर्णन सम्भव है । अनन्त गुणों का कथन एकसाथ नहीं हो सकता । अतः आचार्यदेव समझाते हैं कि क्रमविवक्षा के कारण आत्मा वाच्य है और उसकी वाच्यता युगपत् नहीं हो सकती, इसलिए वह अवाच्य भी है ।

द्रव्याद्यैः स्वगतैः भावोऽभावाः परगतैस्सदा ।
नित्यः स्थितेरनित्योऽसौ, व्ययोत्पत्तिप्रकारतः ॥१६॥

***अर्थ :-***

आत्मा स्वगत द्रव्यादि भावों के कारण भाववान है और परगत भावों के कारण अभाववान है । ध्रौव्यरूप होने से आत्मा नित्य है और व्यय तथा उत्पाद के कारण से अनित्य है ।

***विशेषार्थ :-***

आत्मा भावस्वरूपी है कि अभावस्वरूपी है ? आत्मा नित्य है कि आत्मा अनित्य है ? ऐसा प्रश्न अन्य मतावलम्बी शिष्य के व्दारा प्रस्तुत किये जाने पर आचार्यदेव इस कारिका के व्दारा उसके लिए समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं ।

आत्मा अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से भावस्वरूपी है । आत्मा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा अभावस्वरूपी है ।

आत्मा ध्रौव्यस्वरूपी होने से नित्य है । आत्मा उत्पाद और व्ययस्वरूपी होने से अनित्य भी है ।

आकुञ्चनप्रसाराभ्यामघातेभ्यः तनुप्रमः ।
समुद्घातैः प्रदेशैः स्यात्स च सर्वगतो मतः ॥१७॥

***अर्थ :-***

आकुंचन और प्रसारण शक्ति के कारण आत्मा शरीरप्रमाण है और केवली समुद्घात के समय आत्मप्रदेश लोकव्यापी होते हैं, इसलिए आत्मा को सर्वगत माना गया है ।

## विशेषार्थ :-

कुछ मतावलम्बी आत्मा को अंगुष्ठप्रमाण, वटकणिकाप्रमाण या सर्वगत मानते हैं । उनके मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मा में प्रदेशों के उपसंहार और प्रसर्पण की शक्ति है । इसकारण आत्मा नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए शरीर के प्रमाण आकार का धारक है ।

केवली समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं । उससमय आत्मा को सर्वगत कहा गया है ।

स्वरूप सम्बोधन की टीका में लिखा है -

***किं च लोकपूरणसमुद्घातकाले विश्व-सप्तरज्जुघनाकारं क्षेत्रं प्रदेशैः व्याप्नोति इति विश्वव्यापी भवति न सर्वदा ।***

**अर्थात् :-** लोकपूरण समुद्घात के काल में यह आत्मा सम्पूर्ण विश्वाकार अर्थात् सात घनराजु प्रमाण प्रदेशों को व्याप्त कर लेता है । अतः वह विश्वव्यापी है । आत्मा सर्वथा विश्वव्यापी नहीं है ।

नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमतावलम्बी आत्मा को प्रदेश की अपेक्षा से सर्वगत मानते हैं । जैनागम प्रदेश की अपेक्षा आत्मा को शरीरप्रमाण मानता है और ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत । ये उन मतों की अपेक्षा जैनों के मत में भिन्नता है ।

कर्त्ता स्वपर्यायेण स्यादकर्त्ता परपर्ययैः ।
भोक्ता प्रत्यात्मसम्प्रीतेरभोक्ता करणाश्रयात् ।।१८।।

## *अर्थ :-*

आत्मा अपनी पर्यायों का कर्त्ता है और परपर्यायों के कारण से अकर्त्ता है । आत्मा अपनी आत्मप्रीति के कारणों का भोक्ता है और इन्द्रियादिकों के आश्रय से अभोक्ता है ।

## *विशेषार्थ :-*

सांख्यमतावलम्बियों की मान्यता है कि प्रकृति कर्त्री है, आत्मा नहीं । आत्मा तो केवल भोक्ता है । बौद्धों का मत है कि

आत्मा क्षणिक है । अतः जो करता है, वह भोक्ता नहीं होता । उन दोनों के मतिभ्रम को दूर करने के लिए आचार्य भगवन्त यहाँ समझाते हैं कि आत्मा अपनी पर्यायों का कर्त्ता और पर की पर्यायों का अकर्त्ता है । आत्मा अपने गुणों के व्दारा निज का भोगने वाला है तो इन्द्रियादिकों के आश्रय से अभोक्ता है ।

आत्मा के नौ अधिकारों में कर्तृत्व और भोक्तृत्व नामक दो अधिकार हैं । इनका वर्णन करते समय आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी लिखते हैं –

***पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।***
***चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।।***
***ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।***
***आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।***

*(द्रव्यसंग्रह – ८ व ९)*

**अर्थात् :-** आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्त्ता है।

आत्मा व्यवहार से सुख-दुःखरूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतनस्वभाव को भोगता है।

स्वसम्वेदनबोधेन, व्यक्तोऽसौ कथितो जिनैः ।
अव्यक्तः परबोधेन, ग्राह्यो ग्राहकोऽप्यतः ।।११।।

***अर्थ :-***

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि आत्मा स्वसम्वेदन ज्ञान के व्दारा व्यक्त होता है । परज्ञान के कारण आत्मा अव्यक्त है । आत्मा ग्राह्य और ग्राहक भी है ।

***विशेषार्थ :-***

यहाँ परवादी के व्दारा प्रश्न उपस्थित किया गया है कि आत्मा व्यक्त है या अव्यक्त ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत कारिका के माध्यम से दिया गया है ।

आत्मा स्व-सम्वेदन ज्ञान के व्दारा व्यक्त होता है और परभावों की अपेक्षा से अवक्तव्य भी है ।

आचार्य श्री अकलंक देव ने लिखा है –

***नावक्तव्यः स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्यः परभावतः ।***

***तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचरः ।।***

(स्वरूप सम्बोधन-७)

**अर्थात् :-** आत्मा स्वरूप आदि की अपेक्षा से अवक्तव्य नहीं है। अन्य अविवक्षित धर्मों की अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है। इसकारण आत्मा एकान्त से यानि सर्वथा न तो वक्तव्य है और न सर्वथा अवक्तव्य है।

टीकाकार ने ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है –

***स एवात्मा एकानेकरूपः। आत्मा स्वरूपाद्यैः स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल -स्वभावरूप-स्वरूपादिचतुष्टयेन वक्तव्यः। आत्मादिशब्दैर्वाच्यः। परभावतः परद्रव्य- परक्षेत्र-परकाल-परभावरूपादि-चतुष्टयेन निर्वाच्यः आत्मादि शब्दैरवाच्यः। तस्मात् ततः कारणात् एकान्ततः सर्वप्रकारेण वाच्यः वचनविषयो न भवति। वाचां वचनानां अगोचरः अविषयः नापि न स्यात्। स्वरूपादिचतुष्टयेन वाच्यः, पररूपादिचतुष्टयेना - वाच्यो भवतीति भावार्थः।।७।।***

**अर्थात् :-** आत्मा अपने स्वरूप की अपेक्षा कहा जाता है। अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और भाव रूप से आत्मा का शब्दों द्वारा कथन किया जाता है। इस कारण आत्मा अपने स्वरूप-द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा वक्तव्य है। परन्तु वह आत्मा अन्य पुद्‌गल आदि पदार्थों की अपेक्षा वक्तव्य नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से आत्मा का स्वरूप भिन्न है, उस अपेक्षा से आत्मा अवक्तव्य है। इसतरह आत्मा न तो एकान्त से सर्वथा वक्तव्य है और न सर्वथा अवक्तव्य है। यानि वह कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य है।

ग्राह्य शब्द का अर्थ ग्रहण करने के योग्य है । आत्मा स्यात् ग्राह्य और स्यात् अग्राह्य है ।

***सहजज्ञानपरिच्छेद्यो ग्राह्यः क्षयोपशमज्ञानेनावेद्यत्वादग्राह्यः ।***

**अर्थात्** :- आत्मा सहज ज्ञान के व्दारा जाना जाता है, अतः वह उस ज्ञान की अपेक्षा से ग्राह्य है परन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा से अग्राह्य है ।

आत्मा स्व-सम्वेदन ज्ञान के व्दारा अपने सौख्यस्वरुप को ग्रहण करने वाला होने से स्व का ग्राहक है और प्रत्येक पदार्थ को जानने वाला होने से आत्मा पर का ग्राहक है परन्तु वह परद्रव्यरुप परिणमन नहीं करता, अतः वह परद्रव्य का अग्राहक भी है ।

इत्यनेकान्तरूपोऽसौ, धर्मैरेवंविधैः पदैः ।
ज्ञातेभ्योऽनन्तशक्तिभ्यो, स्वभावादपि योगिभिः ॥२०॥

***अर्थ*** :-

इसप्रकार वह आत्मा अनेक धर्मपदों के कारण अनेकान्तात्मक है । वह स्वभाव से अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा योगियों के व्दारा जाना जाता है ।

***विशेषार्थ*** :-

आत्मा आदि छहों ही द्रव्य परस्पर भिन्न प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों से संयुक्त होते हैं । किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मों को गौण कर देने पर वस्तु के एक-एक धर्म की सिद्धि होती है । इसी को अनेकान्त-स्याव्दादपद्धति कहते हैं ।

इसी बात को सुस्पष्ट करते हुए आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने लिखा है -

***अर्पितानर्पितसिद्धे ।***

***(तत्त्वार्थसूत्र :- ५/३२ )***

**अर्थात्** :- विवक्षित और अविवक्षितरूप से एक ही द्रव्य में अनेक प्रकार के धर्म रहते हैं ।

द्रव्य होने के कारण से आत्मा भी अनन्त धर्मों से समन्वित है । ऐसे अनन्त धर्मात्मक आत्मा को जानने का सामर्थ्य महान योगियों में पाया जाता है । सामान्य साधक शास्त्रों के माध्यम से ही आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं ।

नयप्रमाणभङ्गिभिः, सुस्थमेतन्मतं भवेत् ।
नया स्युः त्वंशगास्तत्र, प्रमाणे सकलार्थगे।।२१।।

**अर्थ :-**

यह सब नय, प्रमाण और सप्तभंगी के व्दारा सुव्यवस्थित हो जाता है । प्रमाण सकलार्थग्राही होता है और नय प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला होता है।

**विशेषार्थ :-**

आत्मा को या संसार में विद्यमान सम्पूर्ण वस्तुओं को जानने के तीन उपाय हैं ।

1:- **प्रमाण** : पूर्ण वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है ।

2:- **नय** : प्रमाण के व्दारा ग्रहीत वस्तु को जो एक अंशरुप जाने, उसे नय कहते हैं ।

3:- **सप्तभंगी** : प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नवशात् अनेकान्तस्वरुप वस्तु को सात प्रकार से प्रतिपादन करने की शैली सप्तभंगी कहलाती है।

इन तीन साधनों के व्दारा वस्तु का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

भूताभूतनयो मुख्यो, द्रव्यपर्यायदेशनात् ।
तद्भेदा नैगमादयः स्युरन्तभेदस्तथापरे ।।२२।।

**अर्थ :-**

द्रव्य और पर्याय की विवक्षा से नय मुख्यरुप से भूतार्थ और अभूतार्थ इन दो भेदों वाला है । उसके नैगमादि भेद हैं और इनके अनेक अन्तर्भेद भी होते हैं ।

**विशेषार्थ :-**

नय शब्द जैनागम में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।

यथा :-

1:- ज्ञाता (वक्ता) के अभिप्राय को नय कहते हैं । (आलापपद्धति)

2:– श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं । (आलापपद्धति)

3:– नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त करावे, उसे नय कहते हैं । (आलापपद्धति)

4:– जो अपने को और अर्थ को एकदेश जानता है, उसे नय कहते हैं । (श्लोकवार्तिक)

5:– प्रमाण के व्दारा प्रकाशित किये गये पदार्थ का जो विशेषरुप से निश्चय करावे, उसे नय कहते हैं । (राजवार्तिक)

नय के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं ।

♣ **द्रव्यार्थिक नय :–** जो नय द्रव्य की प्रधानता से वस्तु को ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं । इस नय को भूतार्थिक भी कहा जाता है, क्योंकि भूत का अर्थ द्रव्य होता है । भूत यानि द्रव्य है प्रयोजन जिसका, उस नय को भूतार्थिक या द्रव्यार्थिक कहते हैं।

♣ **पर्यायार्थिक नय :–** जो नय पर्याय की प्रधानता से वस्तु को ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं । इस नय को अभूतार्थिक भी कहा जाता है, क्योंकि अभूत का अर्थ कथंचित् द्रव्य अर्थात् पर्याय होता है । अभूत यानि पर्याय है प्रयोजन जिसका, उस नय को अभूतार्थिक या पर्यायार्थिक कहते हैं।

नय के सात भेद किये गये हैं । उनका नामोल्लेख करते हुए आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज लिखते हैं –

***नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ।***

***(तत्त्वार्थसूत्र–1/33)***

**अर्थात् :-** नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

**नैगमनय :** जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है वह नैगमनय है।

**संग्रहनय :** जो नय अपनी जाति का विरोध न करता हुआ एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं।

**व्यवहारनय :** जो नय संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को विधिपूर्वक भेद करता है वह व्यवहारनय है।

**ऋजुसूत्रनय :** जो सिर्फ वर्तमान काल के पदार्थों को ग्रहण करे,

उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

**शब्दनय :** जो नय लिङ्ग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्दनय है। यह नय लिङ्गादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करता है।

**समभिरूढनय :** जो नय नाना अर्थों का उल्लंघनकर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ़नय कहते हैं।

प्रत्यक्षं स्पष्ट निर्भासं, परोक्षं विशदेतरम् ।
तत्प्रमाणं विदुस्तज्ज्ञाः, स्वपरार्थविनिश्चयात् ।।२३।।

***अर्थ :-***

स्पष्ट प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते हैं । अप्रत्यक्ष प्रतिभास को परोक्ष कहते हैं । वह प्रमाण स्व और पर अर्थ का विनिश्चय करने वाला है ऐसा बुद्धिमानों को जानना चाहिये ।

***विशेषार्थ :-***

जो स्व और परद्रव्य का विनिश्चय करावे, उसे प्रमाण कहते हैं । प्र यानि परम, श्रेष्ठ या समीचीन और मान यानि ज्ञान । प्रमाण का अर्थ है – **सम्यग्ज्ञान** ।

प्रमाण शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री पूज्यपाद जी लिखते हैं –

***प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् ।***

***(सर्वार्थसिद्धि :– १/१०)***

**अर्थात् :-** जो अच्छीतरह जानता है, जिसके व्दारा अच्छीतरह जाना जाता है अथवा जानना मात्र ही प्रमाण है ।

प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद हैं ।

प्रत्यक्षप्रमाण को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री माणिक्यनन्दि जी लिखते हैं –

***विशदं प्रत्यक्षम् ।***

***(परीक्षामुख :– २/१)***

**अर्थात् :-** स्पष्टज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।

न्यायविनिश्चयकार के अनुसार स्पष्ट, सविकल्प और व्यभिचारादि दोषों से रहित होकर स्व और परविषयक सामान्यरूप से द्रव्य को और विशेषरूप से पर्याय को जानना प्रत्यक्ष है ।

परोक्षप्रमाण को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री माणिक्यनन्दि जी लिखते हैं –

***परोक्षमितरत् ।***

***(परीक्षामुख :- ३/१)***

**अर्थात् :-** प्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान को अर्थात् अविशदज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं ।

दोनों प्रमाणों के स्वरूप को समझाते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है –

***जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु ।***
***जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ।।***

***(प्रवचनसार :- ५८)***

**अर्थात् :-** पर के द्वारा होने वाले पदार्थविषयक ज्ञान को परोक्ष कहा गया है । यदि मात्र आत्मा के द्वारा ही जाना जावे तो वह प्रत्यक्ष है ।

इन दो प्रकार के प्रमाणों के द्वारा आत्मा स्व को और पर वस्तुओं को जानता है ।

स्यादस्तिनास्ति युगस्यादवक्तव्यं च तत्त्रयम् ।
सप्तभङ्गीनयैर्वस्तु, द्रव्यार्थिकपुरस्सरैः ।।२४।।

***अर्थ :-***

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादुभय, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति-अवक्तव्य इस सप्तभंगी नय के द्वारा द्रव्यार्थिकता की प्रधानता से वस्तु का ज्ञान करना चाहिये ।

***विशेषार्थ :-***

सप्तभंगी के द्वारा वस्तुतत्त्व को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है । सप्तभंगी शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री मल्लिषेण जी लिखते हैं –

***एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्वादि धर्मविषय प्रश्नवशाददविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते ।***

***(स्याद्वाद मंजरी :– २२)***

**अर्थात्** :- जीवादि पदार्थों में अस्तित्वादि धर्मों के विषय में प्रश्न उपस्थित करने पर विरोधरहित, प्रत्यक्षादि से अविरुद्ध अलग-अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मों के विचारपूर्वक **स्यात्** शब्द से युक्त सात प्रकार की वचनरचना को सप्तभंगी कहते हैं ।

वे सात भंग **निम्नप्रकार** से हैं –

**1:– स्यादस्ति** : प्रत्येक वस्तु **विधिधर्म** की अपेक्षा से कथंचित् अस्तित्वरूप ही है ।

**2:– स्यान्नास्ति** : प्रत्येक वस्तु **निषेधधर्म** की अपेक्षा से कथंचित् नास्तित्वरूप ही है ।

**3:– स्यादस्तिनास्ति** : प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि और निषेध इन दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है ।

**4:– स्यादवक्तव्य** : प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि और निषेधरूप धर्मों की अपेक्षा से **अवक्तव्य** ही है ।

**5:– स्यादस्ति–अवक्तव्य** : प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि–निषेध रूप धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अस्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है ।

**6:– स्यान्नास्ति–अवक्तव्य** : प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि और निषेधरूप धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है ।

7:- स्यादस्तिनास्ति-अवक्तव्य : प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि और निषेध तथा एक साथ विधि और निषेधरूप धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्यरूप ही है ।

आचार्य भगवन्त इस कारिका के माध्यम से शिष्य को आदेश देते हैं कि सप्तभंगी नय के व्दारा वस्तु का समीचीन ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ।

निर्लेश्यं निर्गुणस्थानं, सच्चिद्ज्ञानसुखात्मकः ।
आत्यन्तिकमवस्थानं, स मोक्षोऽत्र यदात्मनः ।।२५।।

***अर्थ :-***

लेश्या से रहित, गुणस्थानों से रहित, सद्रूप, चिद्रूप, ज्ञानमय, सुखमय आत्मा का जो आत्यन्तिक अवस्थान होता है वही मोक्ष है।

**विशेषार्थ :-**

कषायानुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं । लेश्याओं के छह भेद हैं । यथा - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । परमात्मा समस्त लेश्याओं से रहित होते हैं ।

मोह और योग के निमित्त से आत्मा के परिणामों में होने वाली तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं । गुणस्थान चौदह हैं । उनका नामनिर्देश करते हुए आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जी लिखते हैं -

***मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।***
***विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।।***
***उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।***
***चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।।***

***(जीवकाण्ड : ९/१०)***

**अर्थात् :-** मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं।

इनका स्वरूप निम्नरूप से है।

**१:- मिथ्यात्व** : मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मा के परिणामविशेष को मिथ्यात्वगुणस्थान कहते हैं।

**२:- सासादन** : प्रथमोपशमसम्यक्त्व के काल में जब ज्यादा से ज्यादा छह आवली और कम से कम एकसमय शेष रहे उस समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से नाश हो गया है सम्यक्त्व जिसके ऐसा जीव सासादनगुणस्थान वाला होता है।

**३:- सम्यग्मिथ्यात्व** : सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के मिश्ररूप परिणाम होते हैं, उसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

**४:- अविरतसम्यग्दृष्टि** : दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानु-बन्धी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम से और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से व्रतरहित सम्यक्त्वधारी चौथे गुणस्थानवर्ती होता है।

**५:- देशविरत** : प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से यद्यपि संयमभाव नहीं होता तथापि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के उपशम से श्रावकव्रतरूप देशचारित्र होता है। इसी को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

**६:- प्रमत्तविरत** : संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से संयमभाव तथा मलजनक प्रमाद ये दोनों ही युगपत् होते हैं इसलिये इस गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अर्थात् चित्रलाचरणी कहते हैं।

**७:- अप्रमत्तविरत** : संज्वलन और नोकषाय के मन्द उदय होने से प्रमादरहित संयमभाव होता है इस कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनि को अप्रमत्तविरत कहते हैं।

**८:- अपूर्वकरण** : जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व ही अपूर्व परिणाम होते जायें, उसको अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

**९:- अनिवृत्तिकरण** : जिस करण में भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही हों उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

**१०:- सूक्ष्मसाम्पराय** : अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभवन करते हुये जीव के सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान

होता है।

**११:- उपशान्तमोह : चारित्रमोहनीय** की इक्कीस प्रकृतियों के उपशम होने से यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के उपशान्तमोह नामका गुणस्थान होता है।

**१२:- क्षीणमोह : मोहनीय कर्म** के अत्यन्त क्षय होने से स्फटिक भाजनगत जलकी तरह अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्र के धारक मुनि के क्षीणमोह गुणस्थान होता है।

**१३:- सयोगकेवली :** घातिया कर्मों की सैंतालीस और अघातियाँ कर्मों की सोलह मिलाकर तिरेसठ प्रकृतियों का क्षय होने से लोकालोकप्रकाशक केवलज्ञान तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोग के धारक अरहन्त भट्टारक के सयोगकेवली गुणस्थान होता है।

**१४:- अयोगकेवली :** मन, वचन और काय के योग से रहित केवलज्ञानसहित अरहन्त भट्टारक के अयोगकेवली गुणस्थान होता है।

आत्मा सत्, चित्, ज्ञान और सुख से सम्पन्न है । ऐसे आत्मा का स्वाभाविक दशा में अवस्थान का नाम ही मोक्ष है ।

दृग्ज्ञानवृत्ति मोहाख्य, विघ्ना विद्योदरान्वयः ।
कर्माणि द्रव्यमुख्यानि, क्षयश्चैषामसौ भवेत् ।।२६।।

***अर्थ :-***

विद्या आदि को आवृत्त करने वाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय इन प्रमुख द्रव्यकर्मों का क्षय करके आत्मा परमात्मा बन जाता है ।

**विशेषार्थ :-**

पुद्गलमयी कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं । उसके घातिया और अघातिया के भेद से दो भेद हैं । जो कर्म आत्मा के ज्ञान और सुख आदि अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, उन कर्मों को घातिया कर्म कहते हैं । घातिया कर्म के चार भेद हैं । यथा - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ।

जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत्त करता है, उसे

ज्ञानावरण कर्म कहते हैं । इसके मुख्यतः पाँच भेद हैं ।

जो कर्म आत्मा के दर्शन नामक गुण को आच्छादित करता है, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं । इस कर्म के मुख्यतः नौ भेद हैं ।

जिस कर्म के द्वारा आत्मा के श्रद्धा या चारित्र गुण का घात होता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं । दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से यह कर्म दो प्रकार का है ।

जिस कर्म के उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यादि कार्यों में विघ्न उत्पन्न होता है, उस कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं । इसके मुख्यतः पाँच भेद हैं ।

इन घातिया कर्मों का विनाश करके आत्मा परमात्मा बन जाता है ।

घातिया कर्म का विनाश करने से आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इस बात को सुस्पष्ट करते हुए आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज ने लिखा है–

**मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।**

***(तत्त्वार्थसूत्र :– १०/१)***

**अर्थात् :-** मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

केवलज्ञानी को ही जैनागम में परमात्मा कहा गया है ।

निष्किष्टकालकं स्वर्ण, तत्स्यादग्निविशेषतः ।
तथा रागक्षयादेषः, क्रमाद्भवति निर्मलः ।।२७।।

***अर्थ :-***

अग्नि के योग से जैसे सुवर्ण किट्टी और कालिमा से रहित हो जाता है, उसीप्रकार राग का क्षय करके यह आत्मा क्रम से निर्मल हो जाता है ।

***विशेषार्थ :-***

इस कारिका में आत्मा के शुद्धि की प्रक्रिया को उदाहरण के

माध्यम से समझाया जा रहा है । सुवर्ण के साथ किट्टी कालिमा का संयोग अनादिकालीन है । उसीप्रकार जीव के साथ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्मों का सम्बन्ध अनादिकालीन है । कुशल सुवर्णकार सुवर्ण को शुद्ध करने के लिए उसे अग्नि में झौंक देता है । अग्नि के द्वारा सुवर्ण की मलीनता नष्ट हो जाती है तथा वह शुद्ध हो जाता है । उसीप्रकार तप की अग्नि में तपकर आत्मा भी रागादि कलंकों का विनाश करके शुद्ध हो जाता है ।

बाह्यान्तरङ्गसामग्रे, परमात्मनि भावना ।
योऽभ्युदेति आत्मनः तत्, सम्यग्दर्शनं मतम् ॥२८॥

***अर्थ :-***

बाह्याभ्यन्तर सामग्री के मिलने पर परमात्मा की जो भावना आत्मा में उत्पन्न होती है, उसे सम्यग्दर्शन जानो ।

**विशेषार्थ :-**

आप्त, आगम और तपोधन के प्रति समीचीन श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की आवश्यकता होती है । दर्शनमोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का आभ्यन्तर कारण है । देशनालब्धि, काललब्धि और अन्य छह कारण (जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देवर्द्धिदर्शन और वेदना) ये सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में बाह्य कारण होते हैं । इन दोनों प्रकार के कारणरूप सामग्री की सन्निधि प्राप्त होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ।

आचार्य श्री जिनसेन जी ने लिखा है –

***देशनाकाललब्ध्यादि, बाह्यकारणसम्पदि ।***
***अन्तःकरणसामग्र्यां, भव्यात्मा स्याद् विशुद्धदृक् ॥***

***(आदिपुराण :- ९/११६)***

**अर्थात्** :- देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण और अन्तरंग कारणरूप सामग्री की प्राप्ति होने पर ही भव्य आत्मा सम्यग्दर्शन का धारक होता है ।

ग्रन्थकार समझाते हैं कि दोनों प्रकार के कारणों के मिलने पर आत्मा में परमात्मा की भावना उत्पन्न होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

स्वपरिच्छित्तिपुराणं यत्, तत्प्रतिच्छित्तिकारणम् ।
ज्योतिः प्रदीपवद्धाति, सम्यग्ज्ञानं तदीरितम् ।।२१।।

***अर्थ :-***

जो प्रथम स्वस्वरूप की परिच्छित्ति है तत्पश्चात् पर को जानने का कारण है, उस प्रदीप की ज्योति के समान सुशोभित ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है ।

**विशेषार्थ :-**

इस कारिका में रत्नत्रय के द्वितीय अवयवस्वरूप सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है । जो स्वद्रव्य और परद्रव्य को जानने में निमित्तरूप हो, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने धवला टीका की प्रथम पुस्तक में ज्ञान के चार अर्थ किये हैं । यथा –

***१:– भूतार्थप्रकाशनं ज्ञानम् ।***

**अर्थात्** :- भूतार्थ को प्रकाशित करने वाली शक्ति का नाम ज्ञान है ।

***२:– सभ्दावविनिश्चयोपलम्भकं ज्ञानम् ।***

**अर्थात्** :- वस्तुस्वरूप का निश्चय करने वाले धर्म को ज्ञान कहते हैं ।

***३:– तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम् ।***

**अर्थात्** :- जो तत्त्वार्थ का निश्चय कराता है वह ज्ञान है ।

***४:– द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम् ।***

**अर्थात्** :- जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायों को जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं ।

ग्रन्थकर्त्ता ने भी लिखा है कि निज को जानने के उपरान्त परद्रव्य को प्रदीप के ज्योति की तरह जो प्रकाशित करता है उस गुण को ज्ञान कहते हैं ।

तत्पर्यायस्थिरत्वं वा, स्वास्थ्यं वा चित्तवृत्तिषु ।
सर्वावस्थासु माध्यस्थ्यं, तद्वृत्त अथवा स्मृतम् ।।३०।।

***अर्थ :-***

आत्मा का निज की पर्यायों में स्थिरत्व अथवा चित्तवृत्ति की स्वस्थता अथवा सम्पूर्ण अवस्थाओं में माध्यस्थता को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

**विशेषार्थ :-**

इस कारिका में रत्नत्रय के तृतीय अंगस्वरुप सम्यक्चारित्र का निरूपण किया गया है । **चर् गतिभक्षणयोः** धातु से **इत्र्** प्रत्यय लगकर चारित्र शब्द की निष्पत्ति होती है ।

चारित्र शब्द को परिभाषित करते हुए जैनाचार्यों ने कर्तृ – साधन, कर्म साधन और भावसाधन का सहयोग लिया है । आचार्यमहर्षि श्री पूज्यपाद जी ने लिखा है –

***चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् ।***

***(सर्वार्थसिद्धि :- १/१)***

**अर्थात् :-** जो आचरण करता है, जिसके व्दारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है ।

श्री विजयाचार्य जी चारित्र की परिभाषा यूँ करते हैं :-

***चरति याति तेन हितप्राप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम् ।***

***(भगवती आराधना की विजयोदया टीका)***

**अर्थात् :-** जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है उसे चारित्र कहते हैं । अथवा, सज्जन जिसका आचरण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं ।

इस कारिका में चारित्र की तीन परिभाषायें की गयी हैं ।

ये इसप्रकार हैं –

1:- आत्मा का अपनी चैतन्यमयी परिणति में स्थिर हो जाना चारित्र है ।

इसी परिभाषा को पुष्ट करते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी ने लिखा है –

***स्वरूपे चरणं चारित्रम् । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः ।***

***(प्रवचनसार :– ७)***

**अर्थात् :-** अपने स्वरूप में रमण करने का नाम चारित्र है । इसी का अर्थ स्वसमयरूप परिणति करना है ।

2:- चित्तवृत्ति की स्थिरता चारित्र है ।

आचार्य श्री ब्रह्मदेव जी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है –

***दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षप्रभृति समस्तापध्यानरूप मनोरथजनित संकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य संतुष्टस्य तृप्तस्यैकाकार परमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनः पुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम् ।***

***(बृहद् द्रव्यसंग्रह :– ४०)***

**अर्थात् :-** देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग उनमें वांछा करना आदि जो समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ हैं उनसे उत्पन्न हुए संकल्प-विकल्पों के त्याग से उसी सुख मत में संतुष्ट तथा एक आकार का धारक जो परम समता भाव उससे चलायमान चित्त को पुनः पुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है ।

3:- सम्पूर्ण अवस्थाओं में माध्यस्थता को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है –

***चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।***
***मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।***

***(प्रवचनसार :– ७)***

**अर्थात् :-** निश्चयतः चारित्र धर्म है तथा जो धर्म है, वह साम्य है ऐसा कहा गया है । मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम ही साम्य है ।

यह सम्यक्चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है ।

एतत्त्रितयमेवास्य, हेतुः समुदितं भवेत् ।
नान्यत्कल्पितमन्यैः, यद्वादिभिः युक्तिबाधितम् ॥३१॥

***अर्थ :-***

इन तीनों का समुदाय ही मोक्ष का हेतु होता है । अन्यवादियों के व्दारा कल्पित मार्ग मोक्ष के मार्ग नहीं हैं, क्योंकि वे युक्ति से बाधित हैं ।

**विशेषार्थ :-**

इस ग्रन्थ की व्दितीय कारिका में कहा गया था कि रत्नत्रय के व्दारा समस्त कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है । ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए उसी प्रतिज्ञा को दुहराया जा रहा है । न्यायशास्त्र में निगमन का बहुत बड़ा महत्व है ।

निगमन शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री धर्मभूषण जी ने लिखा है :-

***साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम् ।***

***(न्यायदीपिका)***

**अर्थात् :-** साधन को दुहराते हुए साध्य के निश्चयरूप वचन को निगमन कहते हैं ।

रत्नत्रय को छोड़कर अन्य सारे कुवादियों के व्दारा प्ररूपित मार्ग कुमार्ग हैं, क्योंकि वे सब मार्ग युक्ति के व्दारा बाधा को प्राप्त होते हैं ।

आचार्य श्री अकलंकदेव ने लिखा है :-

***न वा नानतरीयकत्वाद् ॥४९।***

***न वा एष दोषः। किं कारणम् ? नान्तरीयकत्वात्, नहि त्रितयमन्तरेण मोक्षप्राप्तिरस्ति। कथम् ? रसायनवत्। यथा न रसायनज्ञानादेव रसायनफलेनाभिसम्बन्धः रसायन श्रद्धानक्रियाभावात्, यदि-वा रसायनज्ञानमात्रादेव रसायनफल सम्बन्धः कस्यचिद् दृष्टः सोऽभिधीयताम् ? न चासावस्ति। न***

***च रसायनक्रिया मात्रादेव, ज्ञानश्रद्धानाभावात्। न च श्रद्धान मात्रादेव, रसायनज्ञानपूर्वक्रियासेवनाभावात्। अतो रसायनज्ञान श्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसम्बन्ध, इति निःप्रद्वन्द्व – मेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसम्बन्धो दर्शनचारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेव, मोक्षमार्गज्ञान पूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव, ज्ञान – श्रद्धानाभावात्। यतः क्रिया ज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति। यदि च ज्ञानमात्रादेव क्वचिदर्थसिद्धिर्दृष्टा साभिधीयताम् ? न चासावस्ति। अतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति।***

(राजवार्तिकः-१/१/४९)

**अर्थात् :-** रसायन के समान सम्यग्दर्शनादि तीनों में अविनाभाव सम्बन्ध है, नान्तरीयक (तीनों के साथ अविनाभाव) होने से। तीनों की समग्रता के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। जैसे रसायन के ज्ञान मात्र से रसायनफल अर्थात् रोगनिवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें रसायनश्रद्धान और क्रिया का अभाव है। यदि किसी ने रसायन के ज्ञान मात्र से रसायनफल-आरोग्य देखा हो तो बतावे? परन्तु रसायनज्ञान मात्र से आरोग्य फल मिलता नहीं है, न रसायन की क्रिया (अपथ्यत्यागादि) मात्र से रोगनिवृत्ति होती है, क्योंकि इसमें रसायन के आरोग्यता गुण का श्रद्धान और ज्ञान का अभाव है तथा ज्ञानपूर्वक क्रिया से रसायन का सेवन किये बिना केवल श्रद्धान मात्र से आरोग्यता नहीं मिल सकती। इसलिए पूर्णफल की प्राप्ति के लिये रसायन का विश्वास, ज्ञान और उसका सेवन आवश्यक ही है। जिस प्रकार यह विवाद रहित है, उसी प्रकार दर्शन और चरित्र के अभाव में सिर्फ ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्षमार्ग के ज्ञान और तदनुरूप क्रिया के अभाव में सिर्फ श्रद्धान मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और न ज्ञान-श्रद्धानशून्य क्रिया मात्र से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि ज्ञान-श्रद्धानरहित क्रिया निष्फल होती है।

यदि ज्ञानमात्र से ही क्वचिद् अर्थसिद्धि देखी गई हो तो कहो। परन्तु ज्ञानमात्र से अर्थ की सिद्धि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः मोक्षमार्ग की कल्पना तीनों से करना ही श्रेष्ठ है।

इसतरह रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है, यह बात सिद्ध हुई ।

इत्थं स्वतन्त्रवचनामृतमापिबन्ति ।
स्वात्मस्थितः कनकसेनमुखेन्दु सूतम् ।।
ये जिह्वया श्रुतिपुते त्रियुगेन भव्याः ।
तेऽजरामरपदं सपदि श्रयन्ति ।।३२।।

***अर्थ :-***

इसप्रकार **स्वात्मस्थित कनकसेन** मुनि के मुखकमल से निर्गत **स्वतन्त्रवचनामृत** का जो पान करते हैं, जो जिह्वा के व्दारा पठन करते हैं अथवा कानों के व्दारा सुनते हैं, वे भव्यजीव शिघ्र ही अजरामर पद को प्राप्त करते हैं ।

***विशेषार्थ :-***

इसप्रकार निरन्तर अपनी आत्मा में स्थित रहने वाले आचार्य श्री कनकसेन जी महाराज के मुखारविन्द से निःसृत हुआ यह **स्वतन्त्रवचनामृतम्** नामक ग्रन्थ है । जो भव्य जीव इस ग्रन्थ का पठन करते हैं अथवा श्रवण करते हैं, वे भव्य शिघ्र ही अजरामर पद के आलय रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

## अमृतघट है स्याव्दाद

**वस्तु में अनेक धर्म हैं । हम अपने वचनों के व्दारा जो कुछ कहते हैं, वह आपेक्षिक सत्य है । इसी पद्धति को स्याव्दाद कहते हैं । यह सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का समन्वय करता है । जैसे नदियों का सम्पूर्ण जल सागर में जाकर मिल जाता है, उसीप्रकार समस्त दर्शन स्याव्दाद में आकर सम्मिलित हो जाते हैं । स्याव्दाद का अवलम्बन लेकर ही सम्पूर्ण दर्शनों में समभाव स्थापित किया जा सकता है । अनेकता में एकता का दर्शन करने की कला स्याव्दाद के व्दारा अवगत की जा सकती है । संसार में विद्यमान समस्त पदार्थों को जानने के लिए स्याव्दाद को छोड़कर अन्य कोई महान युक्ति नहीं है ।**

# स्वतन्त्रवचनामृतम्

Salutations to the auspicious one who is free from passions .

जो वासनाओं से मुक्त है, उस परमात्मा को नमस्कार हो ।

जीवाजीवैक भावाय, प्राणैर्भावतदन्यकैः ।
कार्यकारणमुक्तं तं, मुक्तात्मानं उपास्महे ॥१॥

We venerate that free soul who is emancipated from the cycle of cause and effect (namely the defiled state of bondage) and from the signs of embodiment and vital life and one who illuminates with his knowledge the entire range of the sentient and the insentient. (1)

**हिन्दी अनुवाद :–**

स्वतन्त्र आत्मा जो कि कारण और कार्य तथा मूर्तरूप और जीवन के साधनों से बन्धनमुक्त है, जो अपने ज्ञानप्रकाश से चेतन और अचेतन को प्रकाशित करते हैं, उनका हम आदर करते हैं ।

अथ मोक्षस्वभावाप्तिरात्मनः कर्मणां क्षयः ।
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रैः, अविनाभावलक्षणैः ॥२॥

There is the attainment of the true nature of emancipation when there is the total destruction of the karmas accumulated by the soul. And such a state is not to be found without the simultaneous presence

of true insight right knowledge and pure conduct. (2)

**हिन्दी अनुवाद :-**

आत्मा से बन्धन को प्राप्त हुए कर्मों का जब पूर्णरूप से नाश हो जाता है, तब यह जीव सही अर्थों में स्वतन्त्र हो जाता है । यह अवस्था सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के एकरूप होने पर ही प्राप्त होती है ।

सति धर्मिणि तद्धर्माः, चिन्त्यन्ते विबुधैरिह ।
भोक्त्रभावे ततः कस्य, मोक्षः स्यादिति नास्तिकः ।।३।।

Here the Nihilist (the Carvaka) objects: the wise consider is the qualities (dharmas) only when there is a substance (dharmin) indicated; in the absence of a soul who attains emancipation (i.e. whose freedom can be talked about?). (3)

**हिन्दी अनुवाद :-**

यहाँ मिथ्यावादी आक्षेप करता है कि वस्तु का निर्देश करने पर ही उसके गुणों का विचार किया जाता है । जब आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, तब उसके स्वतन्त्रता की चर्चा करना कहाँ तक उचित है ?

अस्ति आत्मा चेतनो, द्रष्टा पृथ्व्यादेरनन्वयात् ।
पिशाचदर्शनादिभ्योऽनादि शुद्धः सनातनः ।।४।।

(The Atmavadin says) : There is a soul. He is sentient and being the perceiver cannot be subsumed under such substances) as earth, etc. (He must be considered different from the body) on the analogy of perception of goblins, etc., (who do not have gross bodies). This soul moreover is eternally and forever pure.(4)

**हिन्दी अनुवाद :-**

(आत्मवादी कहते हैं) आत्मा चेतन है, ज्ञानी है, पृथ्वी आदि भूतों से भिन्न है, (उसे शरीर से भिन्न माना जाना चाहिये) पिशाचदर्शन(जिसे पूर्ण शरीर नहीं होता) में कहे हुए आत्मा के समान नहीं है और आत्मा शाश्वत तथा सर्वकाल पवित्र रहने वाला है ।

स निर्लेपः कथं सौख्यस्मारक्रोधादिकारणात् ।
देह एवादि हेतुभ्यः, कर्त्ता भोक्ता च नेश्वरः ।।५।।

The soul cannot however be [totally] free from blemishes because of the presence of such condition as pleasure, sexual desire, anger etc., which arise with the body. For these reasons the soul is the agent (of his actions) as well as the enjoyer [of the results]: he certainly is not the Lord if himself. (5)

**हिन्दी अनुवाद :-**

शरीर के साथ रहने वाले सुख, लैंगीक इच्छा और क्रोध इनके कारण से आत्मा दोषों से मुक्त नहीं रह सकता है । आत्मा का कर्त्ता और भोक्ता ईश्वर हो ही नहीं सकता ।

ईश्वराभावतस्तस्मिन्, न तव्दत्वं प्रसिद्ध्यति ।
साधनासंभवात् सोऽपि, ब्रूते योगमतिष्टिकृत् ।।६।।

In the absence of this lordship he cannot truly be established as endowed with that-ness, (namely being the agent and the enjoyer), so says a disciple of the Yoga school, the performer of sacrifices, (namely, a devoted of the Lord).(6)

**हिन्दी अनुवाद :-**

ईश्वर की अनुपस्थिति में (प्रतिनिधि और आनन्द लेने वाला) आत्मा की स्थिति भी निर्विवादरूप से सिद्ध नहीं हो सकती है । ऐसा योगमतावलम्बी कहता है ।

सत्वात् क्षणिक एवासौ, तत्फलं कस्य जायते ।
अपि दुर्ग्रहीत एवैतत् , प्रत्यभिज्ञादिबाधकात् ।।७।।

Here the Buddhist says : if the soul is an existent, then it must be momentary. Such being the case, to whom would the result accrue ? (The Jaina replies:) surely this is wrongly perceived since your position is invalidated by recognition. Etc. (7).

**हिन्दी अनुवाद :-**

यहाँ बौद्धानुयायी कहता है कि यदि आत्मा विद्यमान हो तो वह क्षणिक है । जैन उन्हें उत्तर देते हैं कि ऐसा मानने पर उसे फलप्राप्ति कैसे हो सकती है ? आपका आकलन गलत है क्योंकि इससे प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जायेगा ।

श्रुतप्रामाण्यत: कर्म क्रियते हिंसादिना युतम् ।
वृथेति अर्पेति न -----------सम्भवात् ।।८।।

Here the Mimamsaka says: Actions are performed mixed with injury to being as they are prescribed by the revealed scriptures(the Vedas). (The Jaina replies:) surely that is futile (as injury cannot be the means of salvation) (8).

**हिन्दी अनुवाद :-**

मीमांसा कहती है कि कर्म करने के लिए पशुयज्ञ की आवश्यकता है ऐसा धर्मग्रन्थ का नियम है । जैन उन्हें उत्तर देते

हैं कि आपका कथन निष्फल है और याज्ञिकी हिंसा मोक्षप्राप्ति का साधन नहीं हो सकता है ।

अव्दैतसाधनं नास्ति, व्दैतापत्तिस्तदन्यथा ।
न्यूनादिति आच्छबोधादेर्देहिनामिति जैनधीः ।।९।।

As for the Advaita-Vedanta if there is only one reality, there can be no means to establish it. And if it established, duality will result. (Moreover, there must be plurality) because of the deficiencies perceived in the pure (i.e. normal) consciousness of the sentient beings : The Jaina view on the soul there fore is (9):

**हिन्दी अनुवाद :-**

अव्दैत वेदान्त का सिद्धान्त अव्दैत यदि अन्तिम सत्य है तो उसकी स्थापना के लिए कोई साधन नहीं है । यदि साधन को स्वीकार करते हो तो व्दैतवाद (अनेकपने का प्रसंग) उत्पन्न हो जायेगा । यह ज्ञानग्रहण करने में सक्षम व्यक्ति के विवेक की शुद्धता के अभाव का आकलन है ऐसा जैनों का कथन है ।

द्रष्टा ज्ञाता प्रभुः कर्त्ता, भोक्ता चेति गुणी च सः ।
विस्रसोर्ध्वगतिः ध्रौव्यव्ययोत्पत्तियुगङ्गमः ।।१०।।

The soul is the perceiver, the knower, the Lord, the agent enjoyer and possessor of qualities. (when freed from the karmas and the conditions of embodiment) the soul is of the nature to rise upwards spontaneously (reaching the summit of the Universe). (As an existent) the soul is enjoined simultaneously with production (of a new state), loss (of an old state) and the endurance (as a substance with its own qualities) (10).

## हिन्दी अनुवाद :-

आत्मा द्रष्टा, सर्वज्ञानी, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता (जब वह कर्मों से और उसके मूर्त्त स्थिति से मुक्त होता है) होता है तब आत्मा ऊर्ध्वगमन करता है (जब वह मोक्ष के लिए गमन करता है तब) नवोत्पत्ति होती है (नवीन स्थिति), पुरातन स्थिति नष्ट होती है तब आत्मा आनन्दित होता है । पदार्थ के मुख्य गुण जैसे होते हैं, वे वैसे ही रहते हैं ।

अस्तिनास्ति स्वभावोऽसौ, धर्मैः स्वपरसम्भवैः ।
गुणागुणस्वरूपश्च, स्वविभावगुणैर्भवेत् ।।११।।

The soul is characterized by positive and negative aspects which rise from the assertion of his own qualities and the denial of others' in him. In this way when we look at his innate nature he will be seen as endowed with (perfect) qualities. When his defilement (arising from the contact of karmas) are however perceived he would appear to be deviod of such (perfect) qualities (11).

## हिन्दी अनुवाद :-

स्वगुणों की अपेक्षा से आत्मा अस्तिरूप है और परगुणों की अपेक्षा से आत्मा नास्तिरूप है । यह आत्मा की विशेषता है । इसतरह आत्मा गुणों से परिपूर्ण है । कर्मों के कारण आत्मा मूर्तिक है । उससमय आत्मा अपने पूर्ण गुणों से युक्त नहीं होने के कारण से आत्मा मलीन होता है ।

व्यपदेशादिभिर्भिन्नः, सुखदिभ्योऽपरस्तथा ।
प्रदेशैर्बन्धतो मूर्तिः, अमूर्तस्य तदन्यथा ।।१२।।

Although truly speaking, he must be distinct from

the states where he is designated (as human, divine, animal, etc.,) he must nevertheless be identical with the (changing) states of happiness, etc. Similarly, he has a form when bound by karmic matters and is formless when he is free from bondagr (12).

## हिन्दी अनुवाद :-

जब सत्य कथन किया जाता है तब आत्मा जिस स्थिति में (मानवीय, दैवी अथवा प्राणी आदि के) होता है, उससे भिन्न ही होना चाहिये । यह आनन्द के स्थिति में परिचित है, उसीरुप में एकस्वरूपी है । कर्मों के बन्धन से बन्धनबद्ध होने के कारण से वह आकार वाला है । जब वह कर्मों सं मुक्त हो जाता है, तब वह आकारहीन (अमूर्तिक) होता है ।

जातिशक्तेस्स चैतन्यैकः स स्यादनेकताम् ।
आप्नोति वृत्तिसद्भावैर्नाना ज्ञानात्मना ततः ॥१३॥

The soul can truly be seen as "non-dual" when one perceives his consciousness in its universal aspect (that is when the objects reflected therein are as modifications of consciousness and distinct from it). But the same consciousness can be described as "manifold" when one perceives its multiple operation in relation to particular souls (13).

## हिन्दी अनुवाद :-

आत्मा मूलरुप से एक ही है । वह अनेकरुपी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका वैश्वीक रुप में (अर्थात् जब उसमें प्रदर्शित उद्दिष्ट नवीन स्वरुप में व भिन्न दिखाई पड़ते हो) परन्तु जब ज्ञान अनेकरुपों में परिवर्तित हो जाता है तब वही आत्मा अनेक हो जाता है ।

क्षणैकः स्वपर्यायैर्नित्यैः गुणैरक्षणिकस्तथा ।
शून्यः कर्मभिः आनन्दादशून्यः स मतः सताम् ॥१४॥

The soul is momentary (if one looks only at its modifications); it is not momentary however if one perceives its eternal qualities. It can be called empty (shunya) since it is devoid of karmas but the wise would call it "non-empty" also as it is filled with bliss (14).

**हिन्दी अनुवाद :-**

यदि किसी ने आत्मा की पर्याय मात्र को देखा हो तो आत्मा क्षणिक है । यदि उसके स्थायी गुणों की अपेक्षा की जाये तो वास्तविक वह आत्मा अक्षणिक भी है । कर्मों से मुक्त होने से आत्मा शून्य भी है और आनन्द से भरा हुआ होने के कारण आत्मा अशून्य भी है ।

चेतनः सोपयोगत्वात्, प्रमेयत्वादचेतनः ।
वाच्यः क्रमविवक्षायामवाच्यो युगपद्गिरः ॥१५॥

The soul is sentient because of its cognition but (in a way) it is insentient too since it becomes the object of knowledge. It can be called "describable" if one were to speak of it in a sequential order (asserting certain properties and denying certain others) but it would become "inexpressible" if one were to attempt to express both the positive and negative aspects simultaneously (15).

**हिन्दी अनुवाद :-**

उपयोगवान होने के कारण से आत्मा चेतन है । परन्तु यदि ज्ञेय का लक्ष्य बनाने पर आत्मा अचेतन है । यदि उसका क्रमवार

भाष्य किया जाये तो (क्रम से कुछ धर्म स्वीकार करने पर) आत्मा का वर्णन किया जा सकता है, किन्तु एक समय में ही कोई उसके अस्ति–नास्ति आदि स्वभाव का वर्णन करना चाहेगा जब आत्मा अव्यक्त हो जावेगा ।

द्रव्याद्यैः स्वगतैः भावोऽभावाः परगतैस्सदा ।
नित्यः स्थितेरनित्योऽसौ, व्ययोत्पत्तिप्रकारतः ॥१६॥

The soul is existent because of its own substance, etc. It can be called non-existent in as much as it lacks the substance (nature) of others. It is external (when one views) its durable substance; non-external however, (when viewed purely) from the gain and loss of its modifications (16).

**हिन्दी अनुवाद :-**

आत्मा विद्यमान है, क्योंकि उसके अपने स्वयं के भाव हैं । उसमें दूसरों के स्वाभाविक गुण नहीं हैं, इसलिए उसे अविद्यमान भी कह सकते हैं । जब आत्मा के नित्य स्थिति को देखा जाता है, तब आत्मा शाश्वत दिखाई पड़ता है परन्तु उसमें उत्पन्न होने वाली और नष्ट होने वाली पर्यायों को देखें तो आत्मा अनित्य दिखता है ।

आकुञ्चनप्रसाराभ्यामघतेभ्यः तनुप्रमः ।
समुद्घातैः प्रदेशैः स्यात्स च सर्वगतो मतः ॥१७॥

Because of expansion and contraction-which do not however destroy it-the soul is said to be of the same measure as its body. However the same soul can be called "omni-present" when it performs the act of "bursting forth" (samudghata) and extends itself throughout the universe (in order to thin the karmic matter of the "non-

destructive" type (i.e. the vedaniya Karma) (17).

## हिन्दी अनुवाद :-

विस्तार और आकुंचन स्वभाव के कारण से आत्मा शरीरप्रमाण है । यदि उसने समुद्घात किया हो तो (अहिंसक पद्धति से कर्मों को विरल करने की प्रक्रिया) वह विश्वव्यापक भी हो जाता है ।

कर्त्ता स्वपर्यायेण स्यादकर्त्ता परपर्ययैः ।
भोक्ता प्रत्यात्मसम्प्रीतेरभोक्ता करणाश्रयात् ॥१८॥

The soul is the agents only of its own modifications. It is not the agent of the states of other existents. It can be called "the enjoyer" to the extent that it attaches itself to its own body and senses but it is not the enjoyer [if one perceives the fact that] it is not truly supported by the sense organs (18).

## हिन्दी अनुवाद :-

आत्मा अपनी पर्यायों का कर्त्ता है परन्तु वह पर की पर्यायों का कर्त्ता नहीं है । आत्मा शरीर और इन्द्रियों से बन्धन को प्राप्त होने के कारण उनके द्वारा प्रदत्त फल को भोगने वाला है । जब आत्मा इन्द्रियों से मुक्त हो जाता है, तब उसे इन्द्रियजन्य फल नहीं भोगना पड़ता है ।

स्वसम्वेदनबोधेन, व्यक्तोऽसौ कथितो जिनैः ।
अव्यक्तः परबोधेन, ग्राह्यो ग्राहकोऽप्यतः ॥१९॥

The Jinas have declared that the soul is "experienced" only in reference to self-cognition but the same soul can be called "beyond experience" when it becomes the object of others' cognition. For the very same reasons the soul is also described as the cognizer and the

cognized (19).

## हिन्दी अनुवाद :-

जिनदेव कहते हैं कि आत्मा स्वसंवेदन के सन्दर्भ में व्यक्त है परन्तु जब वह दूसरों का (वचनों का) उद्दिष्ट बनता है तब वह अव्यक्त हो जाता है । आत्मा ग्रहण करने योग्य और ग्रहण करने वाला भी है ।

इत्यनेकान्तरूपोऽसौ, धर्मैरेवंविधैः पदैः ।
ज्ञातव्योऽनन्तशक्तिभ्यो, स्वभावादपि योगिभिः ।।२०।।

Thus the soul indeed is characterized by a manifold nature and it is to be known by (such apparently contradictory) expressions. By the Yogins, however, the soul can be known in its own nature (endowed) with its infinite qualities (20).

## हिन्दी अनुवाद :-

इसप्रकार आत्मा का बहु आयामी स्वभाव वैशिष्ट्य है । यह परस्पर विरुद्ध अभिव्यक्ति के व्दारा ज्ञात हो चुका है । उस अनन्त गुणस्वभावी आत्मा को योगिगण जान सकते हैं ।

नयप्रमाणभङ्गिभिः, सुस्थमेतन्मतं भवेत् ।
नया स्युः त्वंशगास्तत्र, प्रमाणे सकलार्थगे।।२१।।

Through the method of applying the partial and comprehensive means of knowledge (the manifoldness of the soul) is well established. The nays apprehend only portion of realities whereas the two pramanas, (namely the direct and indirect perceptions) apprehends the totality of knowables (21).

हिन्दी अनुवाद :-

नय, प्रमाण और सप्तभंगी के द्वारा आत्मा का बहु आयामी स्वरूप सम्यक्प्रकार से प्रस्थापित होता है । नय केवल प्रमाण के एक अंश को ग्रहण करता है । प्रमाण पूर्ण वस्तु को (प्रत्यक्ष और परोक्ष आकलन) प्रकाशित करता है ।

भूताभूतनयो मुख्यो, द्रव्यपर्यायदेशनात् ।
तद्भेदा नैगमादयः स्युरन्तभेदस्तथापरे ॥२२॥

The nays are primarily two-fold referring to the real and the relative. namely. the substantial and the modificational aspects. This are further divided as naigama-naya, etc. and each of these is further subdivided (22).

**हिन्दी अनुवाद :-**

नय सर्वप्रथम भूत और अभूतरूप दो पहलुओं का वर्णन करता है । आगे उसके नैगम आदि भेद किये जाते हैं । उनके भी अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं ।

प्रत्यक्षं स्पष्ट निर्भासं, परोक्षं विशदेतरम् ।
तत्प्रमाणं विदुस्तज्ज्ञः, स्वपरार्थविनिश्चयात् ॥२३॥

The direct perception (i.e. the omniscient perception) is that which is clear and without blemish. The indirect perception (namely that which is mediated by mind the senses) is partly clear and partly unclear. Both these are called valid means of knowledge by the wise since they determine the objects inclusive of the self and others (23).

**हिन्दी अनुवाद :-**

प्रत्यक्ष प्रमाण (सर्वज्ञानी आकलन) उसे कहते हैं जो स्पष्ट

और बिना किसी आग्रह के होता है । परोक्ष प्रमाण (मन और इन्द्रियों से होने वाला) कुछ अंश में स्पष्ट और कुछ अंशों में अस्पष्ट होता है । ज्ञानीजन दोनों को ही सर्वमान्य ज्ञान का साधन कहते हैं, क्योंकि वे पदार्थों का (स्व और पर का) निश्चय करते हैं ।

स्यादस्तिनास्ति युगस्यादवक्तव्यंच तत्त्रयम् ।
सप्तभङ्गीनयैर्वस्तु, द्रव्यार्थिकपुरस्सरैः ।।२४।।

The object of knowledge is approached by the seven-fold viewpoints expressed as exists, does not exist, both, inexpressible, and the three combinations thereof, all statements qualified by the term syat (in the some sense). These seven statements will proceed (with having) in view (either) the substance (or the modes) (24).

**हिन्दी अनुवाद :-**

कथन की पद्धति को देखकर सात प्रकार के दृष्टिकोण अभिव्यक्त किये जाते हैं । यथा - अस्ति, नास्ति, दोनों (उभय), अव्यक्त, तीनों का मिश्रण । इनके साथ स्यात् संज्ञा संयुक्त की जाती है । इनके द्वारा पदार्थ का स्वरूप समझ में आता है ।

निर्लेश्यं निर्गुणस्थानं, सच्चिद्ज्ञानसुखत्मक ।
आत्यन्तिकमवस्थानं, स मोक्षोऽत्र यदात्मनः ।।२५।।

The emanicipation of the soul is that state when the soul becomes free from karmic "colouration", transcends the (fourteen) 5 stages of the progress towards perfection, becomes the embodiment of pure being, pure consciousness, infinite knowledge and bliss and endures there eternally (25).

**हिन्दी अनुवाद :-**

आत्मा का मोक्ष यानि ऐसी अवस्था जिसमें आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाता है । पूर्णत्व की ओर ले जाने वाले चौदह गुणस्थानरूपी चौदह सोपानों को पार कर जाता है, तब आत्मा शुद्ध होता है । मोक्ष में सत्, चित्, ज्ञान और सुख सदा-सर्वदा स्थिर रहता है ।

दृग्ज्ञानवृत्ति मोहाख्य, विघ्ना विद्योदरान्वयः ।
कर्माणि द्रव्यमुख्यानि, क्षयश्चैषामसौ भवेत् ।।२६।।

The emancipation takes place when there is the total annihilation of nescience (avidya) which is also known as the major karmic matter, the obscurer of perception and knowledge and the producer of delusion and obstruction (26).

**हिन्दी अनुवाद :-**

जब अविद्या का नाश होता है, साथ में दर्शनावरण, मोहनीय और विघ्न करने वाले कर्म का नाश हो जाता है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

निष्किष्टकालकं स्वर्णं, तत्स्यादग्निविशेषतः ।
तथा रागक्षयादेषः, क्रमाद्भवति निर्मलः ।।२७।।

Just as a piece of gold by coming into contact with a special kind of fire can become free from all dirt, similarly the soul gradually becomes free from (karmic) dirt by the destruction of attachment (27).

**हिन्दी अनुवाद :-**

जिसप्रकार सुवर्ण विशिष्ट अग्नि के संयोग को प्राप्त करता है तब उसकी सम्पूर्ण मलीनता दूर हो जाती है, उसीप्रकार आत्मा

भी मोह का परित्याग करके कर्म विषयक सम्पूर्ण मलीनता से मुक्त हो जाता है ।

बाह्यान्तरङ्गसामग्रे, परमात्मनि भावना ।
योऽभ्युदेति आत्मनः तत्, सम्यग्दर्शनं मतम् ॥२८॥

The true insight is that arises in the soul when there is the contemplation of the true self in the presence of the totality of the internal and external efficient causes (28).

**हिन्दी अनुवाद :-**

बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीरूप निमित्त के मिलने पर जो आत्मा की भावना होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

स्वपरिच्छित्तिपुराणं यत्, तत्प्रतिच्छित्तिकारणम् ।
ज्योतिः प्रदीपवद्भाति, सम्यग्ज्ञानं तदीरितम् ॥२९॥

The right knowledge is said to be that which shines like flame and is the immediate cause of perceiving the objects as well as discriminating between the self and non-self. (29).

**हिन्दी अनुवाद :-**

सम्यग्ज्ञान ज्वाला के समान प्रकाशित होता है, वह वस्तुओं का आकलन करता है और आत्मा (यत्) तथा परद्रव्य (तत्) में भेद करता है ।

तत्पर्यायस्थिरत्वं वा, स्वास्थ्यं वा चित्तवृत्तिषु ।
सर्वावस्थासु माध्यस्थ्यं, तद्वृत्त अथवा स्मृतम् ॥३०॥

The pure conduct is described as that which is

firmness in that state (of discrimination), the complete stillness of all operations of the mind and the equanimity in all states (30).

**हिन्दी अनुवाद :-**

अपनी अवस्थाओं में स्थिरता, मन की समस्त विचारप्रक्रिया में निश्चलता और समस्त अवस्थाओं में सन्तुलन को सम्यक्चारित्र कहते हैं ।

एतत्त्रितयमेवास्य, हेतुः समुदितं भवेत् ।
नान्यत्कल्पितमन्यैः, यद्वादिभिः युक्तिबाधितम् ।।३१।।

Only the combination of these three may be considered the proper means of (attaining) this (emancipation) and not those imagined by the disputants whose arguments are opposed to reasoning (31).

**हिन्दी अनुवाद :-**

इन तीनों का (रत्नत्रय का) मिश्रण ही मोक्ष की प्राप्ति का उचित साधन है । शेष वादियों के व्दारा कथित मार्ग तर्कसंगत नहीं होने से मोक्ष का मार्ग नहीं है ।

इत्थं स्वतन्त्रवचनामृतमापिबन्ति ।
स्वात्मस्थितेः कनकसेनमुखेन्दु सूतम् ।।
ये जिह्वया श्रुतिपुते त्रियुगेन भव्याः ।
तेऽजरामरपदं सपदि श्रयन्ति ।।३२।।

These are the immortal words on the free soul coming from the moon-like mouth of Kanakasena (the poet), well established in his own self. Those devout souls, who with body, speech and mind receive this am-

brosia of words through their ears and taste it with their tongue (i.e. listen to it and repeat it) surely will instantly attain to the state free from decay and death (32).

## हिन्दी अनुवाद :-

यह स्वतन्त्रवचनामृत नामक ग्रन्थ चन्द्र के समान मुख को धारण करने वाले कवि कनकसेन ने लिखा है । जो इस ग्रन्थरूपी अमृत को अपने कानों से ग्रहण करता है, रसना के द्वारा चखता है, वह जन्म और जरावस्था से मुक्त हो जाता है ।

Thus is compleated the Immortal Sayings on the Free Soul.

इसप्रकार स्वतन्त्रवचनामृत पूर्ण हुआ ।

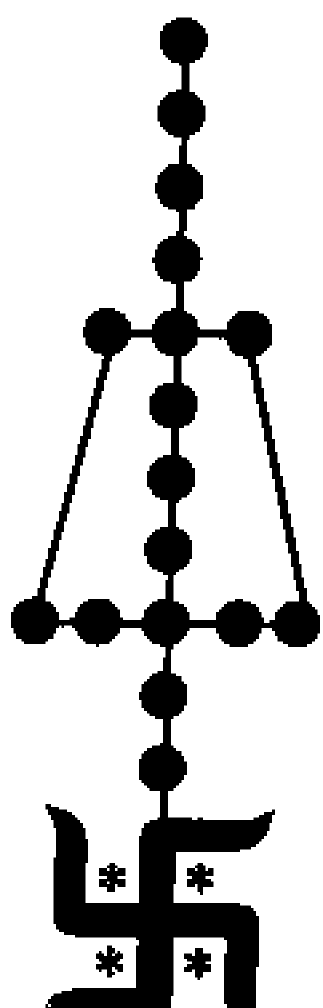

# श्लोकानुक्रमणिका


| क्रमांक | श्लोकांश | श्लोकांक | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| | अ | | |
| १ | अथ गोक्षस्वभावाप्ति | २ | १ |
| २ | अद्वैत साधनं नास्ति | ९ | १३ |
| ३ | अस्तात्मा चेतनो | ४ | ३ |
| ४ | अस्ति-नास्ति स्वभावोऽसौ | ११ | १५ |
| | आ | | |
| ५ | आकुञ्चन प्रसाराभ्यां | १७ | २० |
| | इ | | |
| ६ | इत्थं स्वतंत्रवचनामृत | ३२ | ४० |
| ७ | इत्यनेकान्तरूपोऽसौ | २० | २४ |
| | ई | | |
| ८ | ईश्वराभावतस्तस्मिन् | ६ | ४ |
| | ए | | |
| ९ | एतत्त्रितयं एवास्य | ३१ | ३८ |
| | क | | |
| १० | कर्त्ता स्वपर्यायेण स्यात् | १८ | २१ |
| | क्ष | | |
| ११ | क्षणीकः स्वपर्यायैर्नित्यैः | १४ | १८ |
| | च | | |
| १२ | चेतनः सोपयोगत्वात् | १५ | १९ |
| | ज | | |
| १३ | जातिशक्तेस्स चैतन्यैक | १३ | १७ |
| १४ | जीवाजीवैक भावाय | १ | १ |
| | त | | |
| १५ | तत्पर्याय स्थिरत्वं वा | ३० | ३६ |
| | द | | |
| १६ | दृग्-ज्ञान-वृत्ति मोहाख्य | २५ | ३२ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १७ | द्रव्याद्यै: स्वगतै: भावो | १६ | २० |
| १८ | द्रष्टा ज्ञाता प्रभु: कर्त्ता | १० | १४ |
| | न | | |
| १९ | नयप्रमाणभङ्गिभि: | २१ | २५ |
| २० | निर्लेश्यं निर्गुणस्थानं | २५ | ३० |
| २१ | निष्किष्टकालकं स्वर्ण | २७ | ३३ |
| | प | | |
| २२ | प्रत्यक्षं स्पष्टनिर्भासं | २३ | २७ |
| | ब | | |
| २३ | बाह्यान्तरङ्गसामग्रे | २८ | ३४ |
| | भ | | |
| २४ | भूताभूतनयो मुख्यो | २२ | २५ |
| | व | | |
| २५ | व्यपदेशादिभि र्भिन्न | १२ | १५ |
| | श्र | | |
| २६ | श्रुतप्रामाण्यत: कर्म | ८ | ११ |
| | स | | |
| २७ | सत्वात् क्षणिक एवासौ | ७ | १० |
| २८ | सति धर्मिणि तद्धर्मा: | ३ | २ |
| २९ | स निर्लेप: कथं सौख्य | ५ | ४ |
| ३० | स्यादस्ति-नास्ति युग स्यात् | २४ | २८ |
| ३१ | स्वपरिच्छित्तिपुराणं यत् | २९ | ३५ |
| ३२ | स्वसम्वेदनबोधेन | १९ | २२ |

# हमारे उपलब्ध प्रकाशन

## टीकाग्रन्थ

### रत्नमाला

यह आचार्य श्री शिवकोटि जी का ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में संक्षिप्त पद्धति का अनुसरण करके श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में ६७ श्लोक हैं। बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा, जलप्रयोग की विधि, नित्य – नैमित्तिक क्रिया की विधि आदि अनेक विषय इस ग्रन्थ में वर्णित हैं।

परम पूज्य श्री सुविधिसागर जी महाराज की जादूभरी लेखनी से अनुवादित यह ग्रन्थ अत्यन्त ज्ञानवर्धक है।

**सहयोग राशि :- २५ रुपये**

### प्रमाण प्रमेय कलिका

न्यायशास्त्र के महाभवन का द्वार उद्घाटित करने के लिए सहायकरुप यह ग्रन्थ आचार्य श्री नरेन्द्रसेन जी के द्वारा रचित और परम पूज्य सुविधिसागर जी महाराज के द्वारा अनुवादित है। इस ग्रन्थ का मूल प्रकाशन १९६१ में हुआ था। परन्तु पहली बार अनुवादित होकर यह २००० में प्रकाशित हो पाया।

इस ग्रन्थ में प्रमाणाधिकार व प्रमेयाधिकार ये दो अधिकार हैं तथा कुल ५९ परिच्छेद हैं।

**सहयोग राशि :- २१ रुपये**

### संबोह पंचासिया

यह कवि गौतम का अनुपम ग्रन्थ है। इस प्रति में अज्ञात लेखक की संस्कृत टीका भी है। मूल ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। ग्रन्थ अत्यन्त सरल है। इस ग्रन्थ में कुल 51 गाथायें हैं। परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है।

**सहयोग राशि :- २० रुपये**

## द्रव्यसंग्रह

यह सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र जी की अमरकृति है। आचार्य श्री प्रभाचन्द्र जी की प्रामाणिक टीका इस कृति का श्रेष्ठ अलंकरण है। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता अनेक पाठान्तरों का प्रयोग है। प्राथमिक शिष्यों के लिए यह ग्रन्थ कुंजी के समान है। इसका अनुवाद पूज्य आर्यिका श्री सुविधिमती माताजी ने किया है।

परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने इस कृति की महत्वपूर्ण भूमिका लिखी है।

सहयोग राशि :- ३० रुपये

## वैराग्यसार (वेरग्गसारो)

यह सतहत्तर दोहों में लिखा गया लघुकाय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री सुप्रभ जो चौदहवीं सदी के धरतीभूषण थे। यह ग्रन्थ अज्ञातकर्तुक संस्कृत टीका से संयुक्त है। ग्रन्थ की शैली अत्यन्त सरल व पारिभाषिक शब्दों की कठिनता से रहित है। इस ग्रन्थ का अनुवाद हस्तलिखित प्रति से पूज्य आर्यिका श्री सुयोगमती माताजी ने किया है।

परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने इस कृति की मार्मिक भूमिका लिखी है।

सहयोग राशि :- १५ रुपये

## कषाय जय भावना

दृष्टान्तशैली से भरपूर, अनेक छन्दों से अलंकृत, भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सरल, देवनागरी भाषा में मात्र ४१ छन्दों में लिखा गया यह ग्रन्थ अत्यन्त श्रेष्ठ है। **यथा नाम तथा गुण** इस उक्ति को चरितार्थ करने वाला यह ग्रन्थ साधकशिष्यों का अच्छा मार्गदर्शन करता है। इसके रचयिता श्री कनककीर्ति जी महाराज है।

परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने इस ग्रन्थ का अतिशय सुन्दर अनुवाद किया है।

सहयोग राशि :- १० रुपये

## सज्जनचित्त वल्लभ

कौन जैनसाहित्य प्रेमी आचार्य श्री मल्लिषेण जी के नाम से अपरिचित होगा? आचार्य श्री मल्लिषेण का समय ईसवी सन् १०४७ का है। आचार्यदेव की यह प्रेरणादायक लघु कृति है। इस कृति में मात्र २५ पद्य हैं। एक-एक पद्य में अर्थगाम्भीर्य व उपदेश शैली का पुट है। एक-एक पद्य शिथिलाचार का विरोध और साधक शिष्य के लिए सन्मार्गदर्शन करने वाला है।

इस ग्रन्थ का सरल हिन्दी अनुवाद परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने किया है।

**सहयोग राशि :- ११ रुपये**

## ज्ञानांकुशम्

परम पूज्य योगी सम्राट् श्री योगीन्द्रदेव आचार्य अध्यात्मपिपासु भव्यों के लिए महान मार्गदर्शक हैं। आचार्य श्री के करकमलों से अक्षरविन्यासित यह लघुकाय कृति है। इस ग्रन्थ में मात्र ४४ श्लोक हैं। ध्यान के विषय में अत्यन्त उपयोगी सामग्री इस ग्रन्थ में पायी जाती है।

परम पूज्य जिनवाणी कण्ठाभरण, मुनिश्री सुविधिसागर जी महाराज ने अनेक आगम, मनोविज्ञान, ध्यानविज्ञान और शरीरविज्ञान का सहयोग लेकर इस कृति का अनुवाद किया है।

**सहयोग राशि :- ३० रुपये**

## वैराग्यमणिमाला

वैराग्य को परिपुष्ट करने के इच्छुक भव्यों को इस ग्रन्थ का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। इस ग्रन्थ के रचयिता परम पूज्य आचार्य श्री विशालकीर्ति जी महाराज हैं। ग्रन्थ की भाषा अलंकारिक है। ग्रन्थ में कुल ३३ श्लोक हैं।

परम पूज्य जिनवाणी के अनन्य उपासक, मुनिश्री सुविधि सागर जी महाराज ने इस कृति का अनुवाद किया है।

**सहयोग राशि :- १५ रुपये**

## विधान साहित्य

## कल्याणमन्दिर विधान

आचार्य श्री कुमुदचन्द्र जी विरचित कल्याणमन्दिर स्तोत्र को जैनों के प्रमुख पाँच स्तोत्रों में स्थान दिया गया है। उसके आधार पर इस विधान की रचना की गयी है। संस्कृत भाषा में इस विधान की रचना भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ति जी ने की है। संस्कृत विधान को आधार बनाकर परम पूज्य काव्यविधाता मुनि श्री सुविधिसागर जी ने हिन्दी भाषा में विधान रचना की है। विधान के साथ-साथ स्तोत्र का अर्थ, इतिहास, व्रत की विधि, व्रतजाप्य, विधान का आकर्षक नकशा आदि का समावेश इस ग्रन्थ की विशेषता है।

**सहयोग राशि :- १७ रुपये**

## भक्तामर विधान

आचार्य श्री मानतुंग जी की भक्तिपूर्ण रचना भक्तामर स्तोत्र के आधार पर इस विधान की रचना भट्टारक श्री सोमसेन जी ने की है। इस पुस्तक में परम पूज्य कविहृदय मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज की हिन्दी रचना भी संलग्न है। इस कृति में भक्तामर स्तोत्र की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित ६ कथायें, स्तोत्र का अर्थ, व्रत की विधि, जाप्य, ऋद्धिमन्त्र, विधान का नक्शा आदि समस्त आवश्यक अंगों का समावेश है।

**सहयोग राशि :- २० रुपये**

## रविव्रत विधान

परम पूज्य लेखनी के जादूगार, मुनि श्री सुविधिसागर महाराज जी की यह सुमधुर रचना है । विधान की विधि, व्रतकथा, व्रतजाप्य, मण्डलविधान का नक्शा आदि अंगों की पूर्णता से कृति अतिशय मनोहर बनी है ।

**सहयोग राशि :- १२ रुपये**

## जिनगुणसम्पत्ति व्रत विधान

आदिपुराण जैसे महान ग्रन्थों में महिमा को प्राप्त इस विधान की रचना परम पूज्य जिनवाणी के लाड़ले सुपुत्र मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज ने की है। इस कृति में व्रत कथा, व्रतजाप्य, व्रतविधि, विधान का नक्शा आदि भी समाहित है।

**सहयोग राशि :- २० रुपये**

## रोटतीज विधान

परम पूज्य युवासन्त श्री सुविधिसागर जी महाराज की जादुई लेखनी से निःसृत यह अनुपम रचना है। साथ में व्रतविधि, व्रतजाप्य, व्रतकथा और विधान का नक्शा भी संलग्न है।

**सहयोग राशि :- ११ रुपये**

## श्रुतस्कन्ध विधान

अज्ञातकर्तुक लेखक प्रणीत संस्कृत रचना तथा परम पूज्य युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज द्वारा रचित हिन्दी रचना इस कृति का वैशिष्ट्य है। साथ में सरस्वती स्तोत्र, व्रतकथा, व्रतविधि, व्रतजाप्य, सरस्वती मन्त्र और विधान का नक्शा भी इस कृति में सम्मिलित है।

सहयोग राशि :- १५ रुपये

## सुगन्धदशमी व्रत विधान

यह रचना परम पूज्य श्री सुविधिसागर जी महाराज के पुनीत करकमलों से हुई है। व्रतकथा, व्रतजाप्य, व्रतविधि और विधान का नक्शा भी इस कृति में प्रस्तुत है।

**सहयोग राशि :- १० रुपये**

## निर्दुःखसप्तमी व्रत विधान

यह रचना परम पूज्य श्री सुविधिसागर जी महाराज के पुनीत करकमलों से हुई है। व्रतकथा, व्रतजाप्य, व्रतविधि और विधान का नक्शा भी इस कृति में प्रस्तुत है।

**सहयोग राशि :- १० रुपये**

## प्रवचनसाहित्य

### ॐ धर्म और संस्कृति

उदात्त चिन्तन से भरपूर तथा राष्ट्रभक्ति को जगाने वाला यह प्रवचन है। प्रवचनकर्त्ता परम पूज्य प्रखरवक्ता मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज हैं।

**सहयोग राशि :- ५ रुपये**

### ॐ कैद में फँसी है आत्मा

परम पूज्य आगमनिष्ठ मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज का यह मंगल प्रवचन है। इसमें चतुर्गति के दुःखों का भावप्रवण वर्णन है। परिशिष्ट के रूप में आगम की महान जानकारियाँ दी गई है।

**सहयोग राशि :- ६ रुपये**

### ॐ ए बे - लगाम के घोड़े सावधान :-

परम पूज्य मुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज के द्वारा लिखित ३२ पत्र इस महाकृति में हैं।

जिसने भी इस कृति को अबतक पढ़ा, उसने एक ही बात कही कि **तुमसा नहीं देखा**।

**सहयोग राशि :- ७५ रुपये**

### ॐ स्मरणशक्ति का विकास कैसे करें ?

परम पूज्य अचिन्त्य प्रज्ञाशक्ति युवामुनि श्री सुविधिसागर जी महाराज की कालजयी कृति है।

स्मरणशक्ति का विकास कैसे किया जाय ? इस विषय पर आयुर्वेद, मन्त्र, ध्यान, आसन, मुद्रा, एक्युप्रेशर, प्राकृतिक चिकित्सा, होमियोपैथी, चुम्बक चिकित्सा, आहारविज्ञान आदि के माध्यम से स्पष्ट किया है। स्मरणशक्ति के प्रकार विस्मरण के कारण और याद करने की विधि को इस कृति में अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है।

**सहयोग राशि :- १० रुपये**

# क्रीड़ा साहित्य

## आध्यात्मिक क्रीड़ालय :-

खेल-खेल में गहन ज्ञान की प्राप्ति के उपाय को प्रदर्शित करने वाले यह क्रीड़ालय है। इसमें तोल मोल के बोल, चौबीस तीर्थंकर, बारह भावना, णमोकार मन्त्र, एक दिवसीय क्रिकेट और साँपसीढ़ी है। छह खेलों के क्रीड़ापट के साथ छह सौ प्रश्नों वाली पुस्तक और सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री भी है।

**सहयोग राशि :- ५० रुपये**

## ज्ञाननिधि क्रीड़ालय

यथा नाम तथा गुण इस उक्ति को सार्थक करने वाली यह पावन कृति है। बालकों को सहजरुप से धार्मिक ज्ञान प्रदान करने वाली यह कृति समाज में अबतक इकलौती है। नौ सौ नब्बे प्रश्नों वाली पुस्तक और सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री प्रदान की जाती है।

**सहयोग राशि :- ५० रुपये**

## ज्ञानार्जन क्रीड़ा मन्दिर

दूरदर्शन पर कौन बनेगा करोड़पति ? नामक एक क्रीड़ालय का प्रसारण हो रहा था। उसी के आधार पर १० धार्मिक और १० सामाजिक प्रश्न लेकर बनाया हुआ यह क्रीड़ा मन्दिर है।

धार्मिक प्रश्न हो अथवा सामाजिक। अनेक विषयों के आधार से प्रश्नों का संकलन किया गया है। इसतरह का क्रीड़ालय जैन समाज में प्रथम बार ही प्रकाशित हुआ है।

**सहयोग राशि :- ३५ रुपये**

## सन्मति क्रीड़ालय

ताश के ५२ पत्तों के माध्यम से जैनधर्म की शिक्षा देने वाला यह अनुपम क्रीड़ालय है। अनोखे प्रश्नों से युक्त जैन समाज में प्रकाशित हुआ इसतरह का अद्वितीय क्रीड़ालय लेने में प्रमाद मत कीजियेगा।

**सहयोग राशि :- ३५ रुपये**

## मुक्तक साहित्य

### सुविधिमुक्तक मणिमाला-भाग १

इस कृति में १०८ मुक्तकों का संकलन किया गया है।

**सहयोग राशि :- ५ रुपये**

## कैसेट

### स्तोत्र पाठपुंज - भाग १ व २

इस ओडिओ कैसेट में भक्तामर, कल्याण मन्दिर, एकीभाव, विषापहार और चतुर्विंशतिका स्तोत्र का संकलन है। ९० मीनट वाली इस कैसेट में मुनिश्री की सुमधुर आवाज है। नागपुर रेडिओ स्टेशन की उद्घोषिका श्रीमती श्रद्धा भारद्वाज की आवाज में स्तोत्रार्थ है तो विदर्भ के सुप्रसिद्ध संगीतकार श्री अनिल अगरकर के संगीत से यह कैसेट सुसज्जित है।

### गीतगुंजन

इस कैसेट में मुनिश्री के द्वारा रचित और उनकी ही सु - मधुर स्वर लहरियों में निबद्ध भजनों का संकलन किया गया है। इस ७० मीनट की कैसेट को अनिल अगरकर ने संगीत दिया है।

### काव्यकुंज

इस कैसेट में मुनिश्री के द्वारा रचित और उनकी ही सु-मधुर स्वरलहरियों में निबद्ध ओजस्वी कविताओं का संकलन किया गया है। इस ६० मीनट की कैसेट को अनिल अगरकर ने संगीत दिया है।

**प्रत्येक कैसेट के लिए सहयोग राशि :- ५० रुपये**

जो वासनाओं से मुक्त है, उस परमात्मा को नमस्कार हो ।

1:- स्वतन्त्र आत्मा जो कि कारण और कार्य तथा मुर्त्तरूप और जीवन के साधनों से बन्धनमुक्त है, जो अपने ज्ञानप्रकाश से चेतन और अचेतन को प्रकाशित करते हैं, उनका हम आदर करते हैं ।

2:- आत्मा से बन्धन को प्राप्त हुए कर्मो का जब पूर्णरूप से नाश हो जाता है, तब यह जीव सही अर्थो में स्वतन्त्र हो जाता है । यह अवस्था सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के एकरूप होने पर ही प्राप्त होती है ।

3 :- यहाँ मिथ्यावादी आक्षेप करता है कि वस्तु का निर्देश करने पर ही उसके गुणों का विचार किया जाता है । जब आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, तब उसके स्वतन्त्रता की चर्चा करना कहाँतक उचित है ?

4:- (आत्मवादी कहते हैं) आत्मा चेतन है, ज्ञानी है, पृथ्वी आदि भूतों से भिन्न है, (उसे शरीर से भिन्न माना जाना चाहिये) पिशाचदर्शन(जिसे पूर्ण शरीर नहीं होता) में कहे हुए आत्मा के समान नहीं है और आत्मा शाश्वत तथा सर्वकाल पवित्र रहने वाला है ।

5:- शरीर के साथ रहने वाले सुख, लैंगीक इच्छा और क्रोध । इनके कारण से आत्मा दोषों से मुक्त नहीं रह सकता है । आत्मा का कर्त्ता और भोक्ता ईश्वर हो ही नहीं सकता ।

6:- ईश्वर की अनुपस्थिति में (प्रतिनिधि और आनन्द लेने वाला) आत्मा की स्थिति निर्विवादरूप से सिद्ध नहीं हों सकती है । ऐसा योगमतावलम्बी कहता है ।

7:- यहाँ बौद्धवादी कहता है कि यदि आत्मा विद्यमान हो तो वह क्षणिक है । जैन उन्हें उत्तर देते हैं कि ऐसा मानने पर उसे फलप्राप्ति कैसे हो सकती है ? आपका आकलन गलत है क्योंकि इससे प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जायेगा ।

8:- मीमांसा कहती है कि कर्म करने के लिए पशुयज्ञ की आवश्यकता है ऐसा धर्मग्रन्थ का नियम है । जैन उन्हें उत्तर देते हैं कि आपका कथन निष्फल है और यज्ञ हिंसा मोक्षप्राप्ति का साध

ान नहीं हो सकता है ।

9:- अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त अद्वैत यदि अन्तिम सत्य है तो उसकी स्थापना के लिए कोई साधन नहीं है । यदि साधन को स्वीकार करते हो तो द्वैतवाद (अनेकपने का प्रसंग) उत्पन्न हो जायेगा । यह ज्ञानग्रहण करने में सक्षम व्यक्ति के विवेक की शुद्धता के अभाव का आकलन है ऐसा जैनों का कथन है ।

10:- आत्मा द्रष्टा, सर्वज्ञानी, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता (जब वह कर्मों से और उसके मूर्त स्थिति से मुक्त होता है) तब आत्मा का ऊर्ध्वगमन करता है (जब वह मोक्ष के लिए गमन करता है तब) उत्पत्ति होती है (नवीन स्थिति), पुरातन स्थिति नष्ट होती है तब आत्मा आनन्दित होता है । पदार्थ के मुख्य गुण जैसे होते हैं, वे वैसे ही रहते हैं ।

11:- स्वगुणों की अपेक्षा से आत्मा अस्तिरूप है और परगुणों की अपेक्षा से आत्मा नास्तिरूप है । यह आत्मा की विशेषता है । इसतरह आत्मा गुणों से परिपूर्ण है । कर्मों के कारण आत्मा मूर्तिक है । उससमय आत्मा अपने पूर्ण गुणों से युक्त नहीं होने के कारण से आत्मा मलीन होता है ।

12:- जब सत्य कथन किया जाता है तब आत्मा जिस स्थिति में (मानवीय, दैवी अथवा प्राणी आदि के) होता है, उससे भिन्न ही होना चाहिये । वह आनन्द के स्थिति में परिचित है, उसीरूप में एकस्वरूपी है । कर्मों के बन्धन से बन्धनबद्ध होने के कारण से वह आकार वाला है । जब वह कर्मों से मुक्त हो जाता है, तब वह आकारहीन (अमूर्तिक) होता है ।

13:- आत्मा मूलरूप से एक ही है । वह अनेकरूपी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका वैश्वीक रूप में (अर्थात् जब उसमें प्रदर्शित उद्दिष्ट नवीन स्वरूप में व भिन्न दिखाई पड़ते हो) परन्तु जब ज्ञान अनेकरूपों में परिवर्तित हो जाता है तब वही आत्मा अनेक हो जाता है ।

14:- यदि किसी ने आत्मा की पर्याय मात्र को देखा हो तो आत्मा क्षणिक है । यदि उसके स्थायी गुणों की अपेक्षा की जाये तो वास्तविक वह आत्मा अक्षणिक भी है । कर्मों से मुक्त होने से आत्मा शून्य भी है और आनन्द से भरा हुआ होने के कारण आत्मा अशून्य भी है ।

# इस ग्रन्थ के अर्थसहयोगी

**श्री हिराचन्द भानुसा डोणगाँवकर**
तथा **सौ. तारामती हिराचन्द डोणगाँवकर**
जुना बस स्टॅण्ड रोड देवलगाँवराजा
जि. बुलढाना (महा.)

**श्री प्रमोदकुमार मगनसा साहुजी**
तथा **सौ.सुनिता प्रमोदकुमार साहुजी**
ए. पी. एम. सी. मार्केटयार्ड, देवलगाँवराजा
जि. बुलढाना (महा.)

**श्री भरतकुमार बाबुसा जैन**
तथा **सौ. सुषिलाबाई भरतकुमार जैन**
अहिंसामार्ग, देवलगाँवराजा जि. बुलढाणा (महा.)

**श्री. उल्हास पदमसा जैन**
तथा **सौ. वन्दना उल्हास जैन**
अहिंसामार्ग, देवलगाँवराजा जि. बुलढाना (महा.)

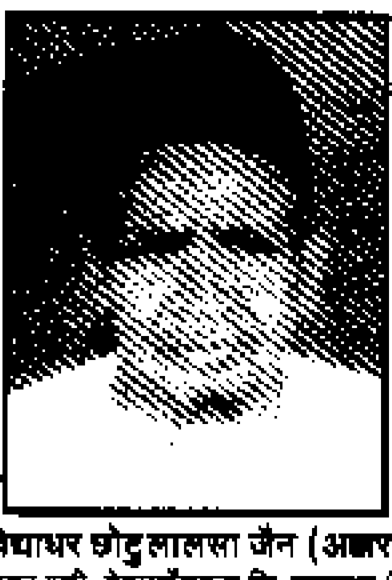

**श्री विद्याधर छोटुलालसा जैन (आळसोटे)**
ताम्बटकर गल्ली, देवलगाँवराजा जि. बुलढाना (महा.)

**श्री सुशीलबन्धु प्रकाश**
**श्री वर्धमान छोटूलालसा डोणगाँवकर**
कपड़ा दुकान, जुना बसस्टैण्ड रोड,
देवलगाँवराजा जि. बुलढाना (महा.)

**स्वर्गीय ताराचन्द बालचन्दसा गिरणीकर की पावन स्मृति में**
**विनोद ताराचन्दसा गिरणीकर**
अहिंसामार्ग, देवलगाँवराजा जि. बुलढाना (महा.)
फोन: २५२२८५